IDEA & IDEOLOGY

भाव और भावातीत

शब्दावली

सत्त्व	:	संवेदनात्मक बल या ज्ञात संकाय
रजः	:	उत्तेजना का बल
तमः	:	स्थिर बल या ठहरी हुई स्थिति
अहम् तत्त्व	:	(या बुद्धि या महत्) / भाव (अहम् = मैं हूँ)
अहंकार	:	''मैं करता हूँ'' भाव (अहम् + कार = मैं हूँ + करता हूँ)।
चित्त	:	सूक्ष्म मन जहाँ वैश्विक मन का विस्तार होता है।
प्राणा	:	अनिवार्य शक्ति
पंचभूत	:	पंच तत्त्व
तत्त्व	:	अवस्था या विचार

आकाश तत्त्व अथवा अवस्था

मरु तत्त्व	-	वायु अवस्था
तेजस तत्त्व	-	प्रकाशयुक्त अवस्था
अप तत्त्व	-	द्रव अवस्था
क्षिति तत्त्व	-	ठोस अवस्था

तन्मात्र : तत्त्वों की तरंगायित अवस्था

शब्द तन्मात्र	-	ध्वनि तरंग
स्पर्श तन्मात्र	-	छूने की तरंग
रूप तन्मात्र	-	दृष्टि तरंग
रस तन्मात्र	-	स्वाद तरंग
गंध तन्मात्र	-	घ्राण तरंग

नोट : आत्म तत्त्व को कई पुस्तकों में 'कर्त्ता' के रूप में व्याख्यायित किया गया है जो भूल है। अतः आत्म तत्त्व का अर्थ मैं करता हूँ का भाव है न कि मैं 'कर्त्ता' हूँ।
संचर और प्रतिसंचर 'क्रमिक विकास चक्र' के रूप में बदल जाना चाहिए और ब्रह्म की रचना के समान कोई रचना नहीं है। विषय और जीवन वैश्विक मन की एक विकसित अवस्था है।

मन ब्रह्माण्डीय मन भूमा

क्रमिक विकास चक्र
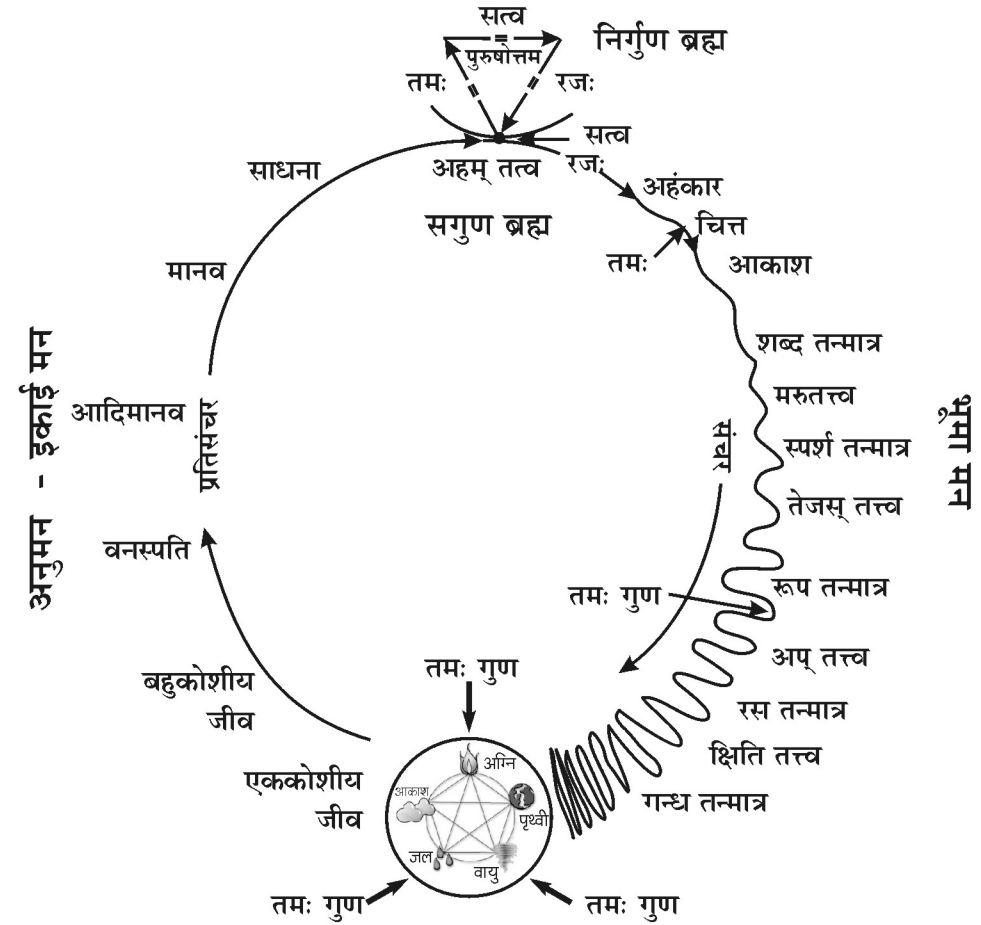
Glossary

Sattva : Sentient force or knowing faculty
Rajah : mutative force
Tamah : static force of pause state
Ahamtattva : (or Buddhi or Mahat) «I» feeling (Aham= I am).
Ahama'ra : «I do» feeling (Aham + kara = I am + doing)
Citta : ectoplasmic mind where the cosmic mind is expressed.
Pra'na : vital energy

Painca Bhuta : five elements
Tattva : state or idea
- Akashatattva : ether state
- Maruttattva : gaseous state
- Tejastattva : luminous state
- Aptattva : liquid state
- Ksititattva : solid state

Tanmatra : wave or vibrational state of elements
- Shabda Tanmatra : sound vibration
- Sparsha Tanmatra : touch vibration
- Roop Tanmatra : vision vibration
- Rasa Tanmatra : taste vibration
- Gandha Tanma'tra : smell vibration

Note : «Ahamtattva»has in many books been wrongly translated as «Doer I». So Ahamtattva should mean knowledge of I feeling and certainly not «Doer I».

The cycle of Sanchara and Pratisaimcara should be termed «cycle of evolution» and not creation, as nothing new beyond Brahma is created. Matter and life is an evolved state of cosmic mind.

श्री प्रभात रंजन सरकार
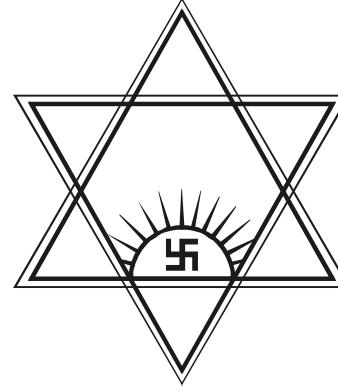
PRATIK

The Pratik is an ancient Yoga symbol with deep spiritual meaning. The triangle pointing downwards symbolizes meditation or the internal development. The triangle pointing upwards symbolizes the energy of action and service in the external world. The two triangles balance each other perfectly- that means a person must balance his/her life with the wisdom that comes from meditation and serviceful action in the world. Then the rising sun indicates progress which is the result of a balanced way of life. Thus the spiritual aspirant is progressing towards the cherished goal of self-realization or spiritual victory which is indicated by the Svastika. Svastika is a San'skit word and means "Good existence of permanent nature" ("Su"—"good", "asti"—"to be").

Parts of the Pratik have been used by people in different cultures for thousands of years. They also have been misused and have thrown a dark shadow on humanity.

The Pratik is a symbol that expresses a universal ideology of "Realization of Self and Service to Humanity".

भाव और भावातीत

(श्री प्रभात रंजन सरकार द्वारा लिखित
मूल अंग्रेजी Idea & Ideology का
हिन्दी भाषान्तर)

मूल लेखक
स्व० श्री प्रभात रंजन सरकार

भाषान्तरकार
स्व० आ. इन्द्रदेव 'गुप्त'
'धर्ममित्र'

प्रकाशक :
आनन्दमार्ग
कटिहार (बिहार)

भाषान्तरकार
स्व० आ. इन्द्रदेव 'गुप्त'
'धर्ममित्र'

प्रथम अंग्रेजी संस्करण : 1959
हिन्दी संस्करण : २०१५

मूल्य : २००/-

मुद्रक :
डिवाइन प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी

भाषान्तरकार के दो शब्द

गुरुदेव ने जमालपुर (मुंगेर) में २६-५-१९५९ से ५-६-१९५९ तक १० दिनों का विशेष तात्त्विक वर्ग लिया था जिसमें पन्द्रह के लगभग साधक सम्मिलित हुए थे। वे सभी आचार्य थे और समर्पित कार्यकर्ता थे। सेवा, कर्म और इष्ट भक्ति के साथ उत्कट तत्त्व जिज्ञासा लेकर हम सब गए थे। इन १० दिनों के वर्गों के तत्त्व ज्ञान और समाज-शास्त्र की शिक्षा के नोट्स का संकलित रूप 'आइडिया एंड आइडियोलोजी' नामक पुस्तक है। आचार्य श्यामनारायण श्रीवास्तव, द्वारका प्रसार शर्मा, प्रो. रघुनाथ और मेरे नोट्स को मिलाकर अन्तिम रूप दिया। मैं उसी समय इस पुस्तक के हिन्दी प्रकाशन के पक्ष में था पर इसके अखिल भारतीय एवं विश्वस्तरीय व्यापक महत्त्व की दृष्टि से इसे अंग्रेजी में प्रकाशित करने का निश्चय हुआ।

कुछ दिनों पूर्व कटिहार में एक कार्यक्रम के लिए आचार्य समन्वयानन्द अवधूत, आ. रुद्रानन्द अवधूत एवं प्रो. रघुनाथ आए थे। इनके साहचर्य में साधनात्मक अभ्यास और तत्वज्ञान की भी आनन्दप्रद चर्चाएँ हुई। इन वरिष्ठ साधकों के सानिध्य से मैं बहुत उपकृत हुआ। इसी अवसर पर आ समन्वयानन्द जी ने मुझसे आनन्दसूत्रम् के भावार्थ का संस्कृत अनुवाद और सूत्रों का संस्कृत में सरल अर्थ लिखने का अनुरोध किया। वही आ. रुद्रानन्द ने 'आइडिया एंड आइडियोलोजी' पुस्तक को साधारण पाठकों के लिए समझ पाना अति दुष्कर अनुभव करते हुए और इस पुस्तक की विषय वस्तु की हिन्दी भाषी साधकों के लिए अत्यधिक उपादेयता की दृष्टि से इसके हिन्दी भाषान्तर के लिए मुझसे विशेष आग्रह किया। इन दोनों पुस्तकों की विषय वस्तु समान है। 'अतिगंभीर' तत्त्वज्ञान अपनी सर्वोच्चता में इन दोनों पुस्तकों में समाहित है। सर्वधी-बोधि के साक्षी, ज्ञान गंगा के पुरोधा जिस परम पुरुष ने अपने ज्ञान का लवलेश इन दोनों पुस्तकों में बिखेर दिया है, वह इनको तिरस्कृत कर इससे अनेक ऊँचे सिद्धान्त प्रतिपादित करने में समर्थ था। मैं तो अपने अज्ञान से परिचित था पर उस परमपुरुष के सदा साक्षित्व का अटूट विश्वास लेकर दोनों दायित्व उठा लिये। इन दोनों में भाषा की सरलता का मैंने संकल्प लेकर हाथ लगाया। लगा जैसे कोई मुझसे लिखवा रहा है। मैं तो 'अल्पविषयामति' स्टेनो मात्र था। जिसका काम था उसने ही सहज में पूरा कर लिया। पर फूल चुनने वाली अंगुलियाँ उनके स्पर्श से सुवासित हो जाती है, आँखों के माध्यम से उनका रूप मन को रसमय कर देता है। सब मिलकर अन्तर्मन में बिना आकार के मनोरम नाद की अनुगूँज छा जाती है। देवता के दिए फूल तो उन्हें ही समर्पित कर दिये जाते हैं। पर चुनने और

अर्ध्य देने के बीच वे फूल मन प्राण को कितना प्रफुल्ल कर जाते हैं यह कोई मुझसे न पूछे।

पुस्तक के नामकरण के लिए मैंने 'भाव और भावातीत' कहा है। जैसा मुझे स्मरण है गुरुदेव ने स्वयं यही नाम कहा था। चरम आदर्श तो भाषातीत तत्त्व ही है।

आशा है यह पुस्तक हिन्दी भाषी साधकों के लिए मार्ग के आदर्श, तत्त्वज्ञान और समाजशास्त्र का समुचित बोध कराने में सफल होगी।

विनयावनत

स्व० आ. इन्द्रदेव 'धर्ममित्र'

विषय सूची

१. संचर और प्राण

विराट ब्राह्मी सत्ता के नाभिकेन्द्र से केन्द्रापगामी विकास की गतिधारा को सञ्चर कहते हैं। यह नाभिकेन्द्र, पुरुषोत्तम विषयी रूप से विकासगत विषय जगत् का साक्षी है। पुरुष या चितिशक्ति शुद्ध चैतन्यघनसत्ता है। अत: इसमें दूसरी किसी क्रियात्मिका शक्ति के अभाव में गति असंभव है। चैतन्यघनसत्ता में ही उसकी क्रियात्मिका शक्ति अन्तर्भुक्त है। यही शक्ति प्रकृति है। चैतन्य पुरुष; शक्ति प्रकृति। पुरुष की अनुसंगिनी विधायिका शक्ति उसी की अनुकम्पा से अवसर पाकर क्रियान्विता होती है। पुरुष और प्रकृति सिद्धान्त प्रतिपादन के क्रम में कहने को दो हैं पर यथार्थ में एकात्मक है। इनका मिला हुआ रूप आग और उसकी जलाने की शक्ति के समान है। एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। दाहिका शक्ति से ही अग्नि का परिचय होता है। इसी प्रकार ब्राह्मी सत्ता में व्यक्ता प्रकृति से ही साक्षी पुरुष का परिचय संकेत मिलता है। प्रकृति को पुरुष की ही उपाधि कह सकते हैं। यह प्रकृति जब अव्यक्त रहती है अर्थात् जब प्राकृत विकास की धारा प्रकट न होकर पुरुष में ही बीजरूप में सुप्त रहती है तब 'विषय' के अभाव में पुरुष 'विषयी' नहीं रहता। वह निर्विषय, निर्गुण कहलाता है। प्रकृति स्वयं तीन गुणों का समन्वित रूप है। सत्त्व (बोध शक्ति), रज: (क्रिया या गति शक्ति) और तम: (अवरोध शक्ति) गुणों की विश्वव्यापी एकवेणी ही विराट मूला प्रकृति है। अभिव्यक्ति की दशा में यह बोधशक्ति अहं बोध अर्थात् 'मैं हूँ' इस समझ के रूप में प्रकट होती है। रजोगुण इस

अहंबोध को क्रियान्वित कर अहंकार में परिणत कर देता है, 'मैं' क्रिया के कर्ता के रूप में आ जाता है। तमोगुण कर्त्तृभाव युक्त 'मैं' की क्रिया की गति को अवरुद्ध कर 'विषय' के रूप में व्यक्त करता है। इन्हीं तीन गुणों की मिलित सत्ता का नाम प्रकृति है। इन तीन गुणों में जब उद्‌भेद नहीं होता अर्थात् वे अव्यक्त रहते हैं तब उसके साक्षी पुरुष को निर्गुण कहते हैं। यद्यपि पुरुष और प्रकृति का नित्य सम्बन्ध अबाध रहता है पर निर्गुणावस्था में प्रकृति अनभिव्यक्त रहती है। अत: प्रकृति की गतिधारा का अर्थ है सत्त्व, रज: और तम: की संघर्षशील शक्तियों का परिणामगत प्रवाह है। गणित की भाषा में कहे तो यह संघर्ष शक्ति त्रिकोण (ट्रैंगिल ऑफ फोर्सेस) में परिणत हो जाता है। इस दशा में पुरुष या शिव को प्रकृति या शिवानी चारों ओर से घेर लेती है।

प्रकृति के तीनों गुणों के अन्त:संघर्ष और मिलन का परिणाम शक्ति- त्रिकोण के किसी कोणबिन्दु से व्यक्त होता है। इस कोणबिन्दु पर स्थित पुरुष या चैतन्य को शंभु और शक्तित्रिकोण के मध्यबिन्दु को पुरुषोत्तम कहते हैं। अर्थात् पुरुषोत्तम शिव का कर्तृविषयी रूप है। पुरुषोत्तम का समस्त सृष्टितत्त्व का नाभिचक्र, मध्यमणि है। पुरुषोत्तम से निकलने वाली गतिधारा बहिर्मुखी एवं निश्चय ही केन्द्रापगा होती है और सूक्ष्म से स्थूल में विवर्तन लाती है। आनन्दमार्ग के अध्यात्म दर्शन में शंभुलिंग से नि:सृत इसी अशेषधारा को सञ्चर कहते हैं।

शक्तित्रिकोण के शीर्ष बिन्दुओं की निश्चयात्मक स्थिति होने पर भी निरपेक्ष गतिशीलता नहीं है। यह तमोगुण प्रधान स्थाणुता की स्थिति है। तमोगुण का कार्य है स्थूलीकरण; जड़त्व की अभिवृद्धि। इस जड़ात्मक तमोगुण पर विजय पाकर उसमें अभिव्यक्ति का स्पन्दन जगाने वाली शक्ति को तर्क विज्ञान के आधार पर कहें

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [6]

तो वह निश्चय ही अगाध गंभीर सत्वगुणी ही होगी। अत: शक्तित्रिकोण परिणामभूत बल के रूप में व्यक्त होने वाली प्रकृति, (जहाँ से सञ्चर प्रारंभ होता है) सत्त्वगुणी ही हो सकती है। यद्यपि वह मूलत: जड़भावात्मक है। यह पुरुष सत्ता में अहंबोध संचरित करती है। यह शुद्ध अहंबोध मात्र है। सत्त्वगुण इससे अधिक कुछ नहीं कर सकता। दर्शन के क्षेत्र में इसे महत्तत्व कहते हैं। भूमा के क्षेत्र में इस महत् को विराट् अहं ही कह सकते हैं। पुरुष पर उसकी ही सात्त्विक प्रकृति का यह प्रथम बन्धन है। विराट् के अति क्षुद्र अंश में सीमित रहने के कारण यह बन्धन, बन्धन के रूप में अनुभूत नहीं होता क्योंकि इसका स्वरूप बहुत ही ढीला है। अत: इसे मात्र दर्शन के एक सिद्धान्त के रूप में भी लिया जा सकता है। महत्तत्व युक्त पुरुषभाव में बहुत छोटा सा रूपान्तर होता है। सञ्चरगति प्रवाह के आगे बढ़ने पर सात्विकी प्रकृति, अन्त:संघर्ष के कारण क्रमश: राजसी बन जाती है। इस विवर्त्तन से दूसरे स्तर पर कर्तृत्व बोध उद्‌भूत होता है। इस स्तर में 'विराट् अहम्' बोध रजोगुण के प्रभाव से भूमा अहंकार में विवर्त्तित हो जाता है। विराट् का यह कर्तृभाव अहंकार कहा जाता है। यहाँ पुरुष पर प्रकृति का बन्धन महत् की अपेक्षा अधिक प्रखर रूप से प्रकट होता है। पर अभी भी यह मात्र कर्तृभाव के सैद्धान्तिक स्वरूप में ही है क्योंकि इसको विषय जगत् का आधार नहीं मिला है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से यह अहंकार विषयीभावरूप अहंबोध के ऊपर रजोगुणी प्रकृति के द्वारा अपने प्रभाव से उत्पन्न ''विषय भावात्मक'' अवस्था है। किन्तु इस अहंकार में भी पुरुष में अत्यन्त सूक्ष्म रूपान्तरण होता है क्योंकि इस स्तर पर कोई कर्मगत सत्ता का निर्माण नहीं हुआ है। यह भूमा अहंकार कर्तृभाव मात्र में स्थित

है।

सञ्चरधारा में तमोगुण के प्रभाव की उत्तरोत्तर वृद्धि से यह अहंकार क्रमश: कर्मभाव में अथवा 'विषय' के रूप में विवर्त्तित होता जाता है। यह स्तर है स्थूलता का। इसे ही चित्त कहते हैं। तमोगुण की बन्धिनी शक्ति के प्रभाव से अहंकार ही क्रिया के परिणाम के रूप में जड़ीभूत होता है। तम: अर्थात् अवरोध शक्ति क्रिया की गति को बाधित कर स्थूल कर्म में रूपान्तरित कर देती है। अवरुद्ध क्रिया गति ही कर्मरूप है। इस समूची यात्रा में प्रथमत: भूमा महत् का क्षुद्र अंश भूमा अहंकार के रूप में प्रभावित होता है और दूसरे स्तर पर इस वृहद् अहंकार का क्षुद्र अंश बाधित होकर विराट् चित्त में रूपान्तरित होता है। यहाँ पुरुष में विषय भावात्मक परिवर्तन होता है। अत: यह विवर्तित स्तर विषयी भावात्मक पुरुष का विषय रूप में इस प्रकार भूमा चैतन्य में प्रभावान्तरण होता चला जाता है। केवल विराट् का अहंकार या कर्तृभाव, रजोगुण के प्रभाव से मानस क्रिया ही नहीं करता वरन् उसका एक अंश तमोगुणी अवरोध शक्ति से अपनी ही क्रिया के परिणाम के रूप में परिणत होकर अपना विषय बन जाता है। इस स्तर पर पुरुष इस बन्धन को कर्मरूप वास्तविकता में अनुभव करता है। इस प्रकार तमोगुण में प्रभावाच्छन्न कर्तृभावापन्न पुरुष ही भूमा चित्त है। यह चित्त विषय सापेक्ष यथार्थता या सापेक्ष सत्य है और इसका आपात मानसिक विषयीभाव तो भूमाका अहंकार या विराट् कर्तृभाव है पर चरम विषयी भाव तो भूमा महत् के अहंबोध में है। महत् अहंकार और चित्त का मिलकर नाम है 'मन'। इसका विषयी भाव भूमाचैतन्य या परमपुरुष है।

व्यक्ता प्रकृति के प्रभाव से जैसे पुरुषोत्तम महत् में, 'महत्' अहंकार में और अहंकार चित्त में विवर्त्तित होता है उसी धारा में

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [7]

तमोगुण से बढ़ते प्रभाव से सञ्चरधारा की गति बढ़ती जाती है। तमोगुण के अवरोध से चित्त अधिकतर जड़ीभूत होकर आकाशभूत में परिणत हो जाता है। अवरोध रुकता नहीं है और भी प्रभाव बढ़ता है। बाहरी दबाव के कारण आकाश तत्त्व का अन्तर अवकाश क्रमश: घटता जाता है एवं सहजात रासायनिक सम्बन्ध स्थापित होता हुआ बढ़ता जाता है। इस प्रकार आकाश तत्त्व के अतिरिक्त चार और सुनिश्चित तत्त्वगत स्तर आते हैं। अब ये पाँच आकाश, वायु, तेजस्, द्रव और स्थूल भूत हो जाते हैं। स्थूल, क्षिति भूमा चित्त का अधिकतम घनीभूत स्वरूप है। इसके विकास के साथ तमोगुण अवरोध शक्ति का दबाव अपनी क्षमता की चरम अवस्था को पहुँच जाता है।

इन पाँच तत्त्वों पर तमोगुण के बाहरी दबाव को बल कहते हैं। इसका प्रभाव प्रथमत: केन्द्रानुगामी होता है; पर इसी की प्रतिक्रिया के कारण भीतरी अणुओं की विरोधिनी शक्ति का उदय होता है जो केन्द्रापगामी होती है और बाहरी बल का प्रतिरोध करती है। बाहरी बल का प्रभाव संरचना के अणु- परमाणुओं की संहति को बाँधे रखता है जबकि अन्दर की केन्द्रापगामी शक्ति की दिशा बाहर की ओर होने के कारण उस संहति को विच्छिन्न करने वाली होती है। बाहरी 'बल' का यह 'प्रतिबल' होता है और दोनों मिलकर संरचना के स्वरूप को बनाए रखते हैं। इस बाहरी बल और अन्दर के प्रतिबल का मिलकर नाम है- प्राण या शक्ति। इस प्रकार हर स्थूल, ठोस संरचना में अपना प्राण या शक्ति होती है। विराट् ब्रह्म के कारण मन के 'अन्तर' में, कारण बीज और उसके स्थूलतम परिणाम के विकास की संघर्ष लीला का ही स्वरूप यह प्राणशक्ति है। बाहर के बल और अन्दर के प्रतिबल में निरन्तर अन्त:संघर्ष सक्रिय रहता है जिसमें दोनों में से किसी की भी जीत

हो सकती है। यदि अन्त:बलों की जीत हो अर्थात् बल-प्रतिबल के संघर्ष का परिणाम भूतबल अन्त:शील हो तो स्थूल संरचना में एक केन्द्र बिन्दु का स्वरूप निर्मित हो जाता है। इस अवस्था में स्थूल संरचना का भौतिक स्वरूप, आकार-प्रकार की उत्पत्ति और स्थिति बल और प्रतिबल के इसी प्राणबिन्दु पर निर्भर करती है।

इसके विपरित यदि बाह्य बल की जीत हो तो परिणाम भूतबल का नाभिकेन्द्र संरचना के भीतर न होकर बाहर होगा। परिणामभूत अन्त:शक्ति या प्राण ही एकमात्र तत्त्व है जो स्थूल पिण्ड में नाभिकीय केन्द्र निर्माण कर उसके संरचनागत आकार प्रकार को बनाए रख सकता है। स्थूल पिण्ड की संरचनागत स्थूलता बनी रहने पर भी उस संरचना में ऐसा अंश हो सकता है जिसमें बाह्य शक्ति की प्रधानता हो और अन्तर्बल अपेक्षाकृत दुर्बल हो। ऐसे अंश में आणविक संहति दुर्बल होगी और उसमें बिखराव होने लगेगा और बाह्य बल की प्रधानता वाला अंश मुख्य संरचना से अलग हो जाएगा। इसके उदाहरण तो दैनिक जीवन में अनुभव किए जा सकते हैं। चयापचय की क्रिया (वीयर एण्ड टीयर) तो चलती रहती है। चयापचय, क्षय, अवक्षय के कारण भौतिक देह में जो कमी आती है उसकी पूर्ति खाद्य, जल, तेज (प्रकाश और ताप) वायु से प्राप्त होने वाली प्राणशक्ति करती है। शरीर में चय अपचय की प्रक्रिया चलती रहने पर भी इसको यौगिक संरचना आपात दृष्टि से एक बनी रहने का कारण है अन्तर्बल या प्राणशक्ति। जब तक परिणामभूत अन्त:प्राणशक्ति का नाभिकीय केन्द्र शरीर को अपने प्रभाव से नियंत्रित रखेगा तब तक देह संरचना एक बनी रहेगी।

देह की संरचना के बाद अब देखें इसमें जीवन का विकास कैसे होता है। दैहिक संरचना आकाश, वायु, तेज, द्रव और स्थूल

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [8]

पंच भूतों के संयोग से बनी है। अत: यह एक बनी रहे इसके लिए जरूरी है कि ये पंच भूत सामंजस्यपूर्ण संतुलित अनुपात में रहें। इनकी पारस्परिक संहति पर ही परिणामभूत अत:बल या प्राण का उद्भव संभव होगा। इन पाँचों तत्वों के पृथक् नाभिकेन्द्रों का परिणामभूत नियंत्रक नाभिकेन्द्र ही दैहिक संरचना का मिलित प्राणकेन्द्र है। इस प्रकार अलग-अलग अंशों के प्राण का मिलित रूप प्राणा: या जीवनी शक्ति है।

भौतिक संरचना में होने वाले चयापचय या क्षय अवक्षय के कारण कुछ तत्त्वों के आनुपातिक अस्तित्व में विसंगति उत्पन्न हो जाती है। इससे विषयीभूत परिणामी नाभिकेन्द्र की क्रियात्मकता एवं संरचना की दृढ़ता बनाए रखना भी खटाई में पड़ जाता है। इस प्रक्रिया में होने वाली विसंगति यदि दूर न की गई, यदि तत्त्वगत अनुपात की सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था नहीं हुई तो परिणामी प्राणशक्ति में भी विपर्यय होने लगेगा। फल होगा संरचना अपनी दृढ़ता खोने लगेगी। अत: भौतिक दैहिक संरचना को एक बनाए रखने के लिए ऐसे पर्यावरण की आवश्यकता है जिसमें इन पाँचों तत्वों का सन्तुलित अनुपात वर्तमान रहे। ऐसी ही दशा में जीवन का विकास संभव होगा। जीवन की अभिव्यक्ति के लिए अनुकूल परिवेश की आधारभूत आवश्यकता है। अत: अनुकूल परिवेश में जीवन के रूप में अभिव्यक्त होने वाला परिणामभूत अन्त:बल ही प्राणा या जीवनी शक्ति है। संस्कृत में इस अर्थ में यह शब्द नियत बहुवचनान्त रूप में व्यवहृत होता है। इसका एक कारण यह है कि यह भौतिक संरचना की अंदर की पाँच और बाहर की पाँच इस प्रकार दस वायुओं या शक्तियों का मिला हुआ रूप है।

प्राणा: के उद्‌भव के लिए दो शर्तें हैं। पहली वह परिणामीबल देहगत अर्थात् अन्तर्बल हो और दूसरी अनुकूल आनुपातिक

परिवेश। इस दूसरी शर्त के कारण अर्थात् अनुकूल आनुपातिक परिवेश बिगड़ जाने के कारण आज के युग में बड़े विशालकाय पशु बीते युगों की भूली हुई कहानियों में समा गए हैं या उनके बहुत छोटे-छोटे संस्करण हो गए हैं। परिणामभूतबल अन्तर्दैहिक होने मात्र से संरचना अटूट नहीं रह सकती। यदि परिवेशगत अनुकूलता उपलब्ध न हो तो संरचना छिन्न विच्छिन्न हो कर बिखर जाएगी। यह दूसरी शर्त बहुत महत्व रखती है। अनुकूल परिवेश न हो तो जीवन की अभिव्यक्ति ही नहीं होगी और तमोगुणी आवरण को जकड़ता जाएगा- बाहरी दबाव बढ़ता जाएगा। फलत: ऐसी अवस्था आ जाएगी जब संरचना में अन्तर-आणविक अवकाश का अभाव हो जाएगा। कोई जगह ही नहीं बचेगी।

अब यदि तमोगुण का बन्धन और कसें तो संरचना के अन्दर भयंकर प्रतिक्रिया होगी जिससे अन्तर्वाह्य दोनों बल प्रभावित होंगे और वह ढाँचा ही विस्फोट होकर बिखर जाएगा। इसी प्रक्रिया को जड़ स्फोट कहते हैं जो केवल मृत या मृतप्राय ग्रह-नक्षत्रों में घटित होता है। जीवित ग्रह-नक्षत्रों में अनुकूल पर्यावरण होने के कारण प्राण का प्राणा: में विकास संभव हो पाता है। अत: जड़ स्फोट की संभावना नहीं रह जाती है।

यह जड़स्फोट अकस्मात् भी हो सकता है और धीरे-धीरे भी। अकस्मात् होने का कारण तो कहा जा चुका है। क्रमिक होने का कारण होता है बाह्य बल के अतिरेक से केन्द्रायगा शक्ति के द्वारा ढाँचा के किसी भाग में क्षरण जो हमेशा क्रमिक होता है। जड़स्फोट क्रमिक हो या आकस्मिक, इससे स्थूल ढाँचा के घटकतत्त्व बिखरकर पाँचों महाभूतों में मिल जाते हैं। इस प्रकार की प्रक्रिया से संचर के क्रमिक विकास में ही फिर से वापसी ॠणात्मक संचर कही जाएगी। ॠणात्मक संचर में घटक तत्त्व बिखरते तो हैं पर वे

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [9]

आकाश तत्त्व से सूक्ष्म अवस्था में परिणत नहीं हो सकते। यदि वैसा होता तो इसका मतलब होगा 'अहंकार' अपनी कालातीत क्रियात्मक संकल्प धारा का प्रत्याहरण कर ले रहा है। भूमा अहम् या महत् के इस प्रत्याहरण का अर्थ होगा भूमा मन का निलम्बन अथवा विराट् सृष्टि प्रक्रिया का रुक जाना या कहें तो सृष्टि का अन्त कह सकते हैं। स्मरण रहे यह सृष्टि स्वयं भूमामन का संकल्प प्रक्षेपण है। विस्फोट की प्रक्रिया प्रत्याहरण नहीं है बल्कि तमोगुणी प्रकृति के बलातिरेक के कारण चिन्ताधारा में एक आलोडन मात्र है जिससे कि बिखराव के बाद विघटित तत्त्व पाँचों मूलभूतों- आकाश, वायु, तेज, अप् और क्षिति में मिल जाते हैं।

इस प्रकार भूमामन को सर्जन संकल्प की प्रेरणा से सृष्टि विकास की अनन्त यात्रा जारी है। विश्वसृष्टि की तापगत मृत्यु की कोई सुदूर की भी संभावना नहीं है।

जमालपुर, २७/०५/१९५९

२. प्रतिसंचर और मन

पहले अध्याय में कहा जा चुका है कि सृष्टि की सब विविधताओं के मूल में एक ही चैतन्य सत्ता है। वही समस्त भौतिक और मानसिक सृजन और विकास का मौलिक कारण है। इस प्राकृतिक जगत् के आधारभूत घटक पाँच तत्त्व हैं। वे हैं— १. क्षिति (स्थूल) २. अप् (द्रव, जल) ३. तेजस् (द्युति) ४. मरुत् (वायु) ५. व्योम (आकाश)। उस एक आत्मसत्ता के इन तत्त्वों में रूपान्तरण या विवर्तन की प्रक्रिया को संचर अथवा संक्रम कहते हैं।

संचर या संक्रम विश्लेषण की प्रक्रिया है। इस विश्लेषणात्मक गतिधारा में वह असीम भूमासत्ता- अगणित क्षुद्र ससीम सत्ताओं की विविधता में रूपान्तरित हो जाती है। वह निरतिशय सातिशय हो जाती है। इन असंख्य सीमित सत्ताओं का साक्षी चैतन्य वही है जो भूमासत्ता का है।

इन असंख्य विषय रूप सत्ताओं का प्रधान कारण एक ही चरम विषयी सत्ता है। यही इस समस्त विविधामय विस्तार की साक्षी सत्ता के रूप में उनका ही समाहार है। इन असंख्य विविधताओं से उस एकात्म सत्ता की ओर की यात्रा की प्रक्रिया को प्रतिसंचर कहते हैं। प्रतिसंचर की यह गतिधारा केन्द्रानुगा, अन्तर्मुखी है अत: यह संश्लेषणात्मक है, स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलकर पुरुषोत्तम में लय होने की गति है। प्रतिसंचर की यह धारा संचर के ठीक प्रतिकूल भी नहीं है। यदि ऐसा होता तो संचर और प्रतिसंचर में संघर्ष होता और सृष्टि की विकास प्रक्रिया का सन्तुलन

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [10]

ही नष्ट हो जाता।

तमोगुण (अवरोध शक्ति) एक प्रकार का बाह्य बल प्रस्तुत करता है जिससे आन्तरिक और बाह्य बल विकसित होते हैं। इन विपरीतमुखी केन्द्रानुगा और केन्द्रापगा शक्तियों के द्वन्द्व से भौतिक संरचना के अन्दर या बाहर एक परिणामभूत आन्तरिक या बाह्य बल निर्मित होता है। जहाँ यह परिणामभूत अन्तर्बल प्रभावी होता है वहाँ उस भौतिक पिण्ड की संरचनात्मक दृढ़ता ठीक-ठीक बनी रहती है। यह समन्वित अन्तर्बल ही प्राणा: कहलाता है।

यह प्राणा: अन्धशक्ति है क्योंकि इसमें बुद्धि का अभाव है। यह तो तमोगुण सृष्ट है। अन्तर्बल और बाह्य बल के संघर्ष से केवल प्राणशक्ति का ही उद्‌भव नहीं होता। प्राणशक्ति अन्तर्बलों का परिणामभूत समाहृत एक बल है पर जब और जहाँ इस संघर्ष के कारण भौतिक पिण्ड का एक या एकाधिक अंश चूर हो जाता है अर्थात्‌ सूक्ष्म तत्त्व में परिणत हो जाता है। सूक्ष्म से तात्पर्य है पिण्ड के घटक पाँचों तत्वों से भी सूक्ष्मतर। यह परिणाम ही व्यष्टिमन या अणुमन कहा जाता है। हम पाते हैं कि अणुसंचरना में विकसित यह अणुमन, भौतिक संघर्ष का रासायनिक परिणाम है और यह भौतिक संरचना भूमा मन के संकल्प में विकसित है। जहाँ तक गुणधर्म का प्रश्न है अणुमन किसी भी प्रकार भूमामन से भिन्न नहीं है। दोनों में बौद्धिक तथा पराभौतिक मूल्यवत्ता है। बौद्धिक अणुमन अणुपिण्ड संरचना की अन्धी प्राणशक्ति की बौद्धिक क्रियाओं को नियंत्रित करता है।

जड़ पदार्थ चित्त का स्थूलतम विकास है और चित्त भूमा चैतन्य का विवर्त्तित रूप। भूमा चैतन्य की दो सूक्ष्म अभिव्यक्तियाँ महत्तत्त्व और अहंकार चित्त के स्तर में प्रच्छन्न है या प्रसुप्त है। अत: अणु के स्तर में भी जिस मन का विकास होता है वह चित्त

से अधिक सूक्ष्म कुछ नहीं है। इसका तात्पर्य है कि अविकसित प्राणी और लतागुल्मों में जिस स्तर का मन विकसित होता है और उसका अधिकांश भाग चित्तमात्र होता है। मन के आरम्भिक विकास के स्तर पर अहंकार अर्थात्‌ कर्त्तामन का विकास नहीं हो पाता। अत: इस अवस्था में प्राणा: रूपी अन्धी शक्ति भौतिक संरचना को कर्मशील नहीं कर पाती। मानसिक विकास के बाद के स्तरों में अहंकार या कर्तृभाव की अभिव्यक्ति के बाद अहं बोध या महत्तत्त्व का उद्‌भव होता है और इस प्रकार अहंकार और महत्‌ कर्त्तृभाव और बोधृभाव के सूक्ष्म स्तरों का आविर्भाव होने पर ये दोनों 'बौद्धिक मन' अन्धी प्राणशक्ति का उचित नियंत्रण करते हैं। इस प्रकार प्राणा: और मन सहयोग और सहकारिता के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर संरचनात्मक दृढ़ता को बनाए रखकर प्रतिसंचर पथ की दिव्य यात्रा में आगे बढ़ते हैं। आनन्द मार्ग के दर्शन की यही विशेषता है कि इसमें अन्य दर्शनों की अपेक्षा विश्लेषणात्मक तर्कसम्मत सिद्धांत दिया है कि मन का विकास जड़ तत्त्वों से हुआ है।

भौतिकवादी दर्शन भी इस तथ्य का अनुमोदन करते हैं। पर वे आगे की व्याख्या नहीं करते। जड़जगत्‌ के मूलकारणों की सुसंगत विवृति उनके पास नहीं है। आनन्द मार्ग का दर्शन सम्पूर्ण व्यक्त परिणामभूत जगत्‌ के कारणों की खोज में गहरे पानी पैठकर यह प्रतिपादित करता है कि पञ्चभूतात्मक जड़ जगत्‌ पुरुषोत्तम का ही विवर्त्तित रूप है जो स्वत: आदिकारण के रूप में स्थित चैतन्यघनसत्ता का नाभिकेन्द्र है।

इस प्रकार भौतिक संरचना के अन्दर संघर्ष के कारण एक सूक्ष्म आधार बन जाता है। इससे फिर स्थूल मन या अणुचित्त विकसित होता है जिसमें न तो कर्तृभाव रहता है और न बोधृभाव।

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [11]

न 'मैं करता हूँ' का भाव रहता है और न 'मैं हूँ' यही बोध रहता है। इस सजीव देह संरचना में प्राण और मन दोनों की अपनी अस्तित्वगत तारंगिक दीर्घता का स्पन्दन क्रियाशील रहता है। इन्हीं दोनों तरंगों की समान्तरता के ऊपर ही वह सहकारितापूर्ण प्रक्रिया निर्भर करती है जिससे कि वह सजीव संरचना या अणु एकांश प्रतिसञ्चर के यात्रापथ पर अग्रसर होता है। मनोविकास के प्रारंभिक स्तरों में, अपने अर्द्धविकसित अथवा अल्पविकसित कर्तृत्वबोध के कारण वह स्वतंत्र रूप से काम नहीं कर सकता है। अत: वह भूमा की इच्छा के अधीन क्रियाशील रहता है और भूमा के क्रियाशील संकल्प का संवेद (momentum) उस अल्पविकसित मन में भी क्रियाशील रह कर उसे उचित वेग में प्रतिसंचर के मार्ग पर लिए चलता है। प्रतिसञ्चर की राह में विद्यामाया का आकर्षण बढ़ता जाता है और अणुचित्त पुरुषोत्तम की ओर अग्रसर होता जाता है।

जीवविज्ञान की दृष्टि से इसका तात्पर्य यह है कि जीवन का विकास जैव पदार्थ (organic matter) से हुआ है और क्रमश: उच्च से उच्चतर योनियों (जैसे पशु, मेरुदण्डी, स्तनपायी आदि) में विवर्त्तित एवं कायान्तरित होता जाता है। अणुमन पर भूमाचैतन्य अथवा पुरुषोत्तम के प्रतिफलन के अनुपात में सृष्टि की भी गति बढ़ती है। इस प्रतिफलन का घनत्व जैसे-जैसे बढ़ता है वैसे-वैसे अल्पविकसित या स्थूल मन क्रमश: सूक्ष्मतर मन में विकसित होता जाता है। अर्थात् मन का आयाम बढ़ता जाता है। अत: हम कह सकते हैं कि मानसपटल पर चैतन्य की प्रतिछाया से उसकी व्यापक अभिवृद्धि होती है।

इस मानसिक व्याप्ति के लिए उत्प्रेरक तत्त्व तीन हैं :

१. भौतिक बल– जो भौतिक संघर्ष से आता है। २. मानसिक

बल– जो मानसिक स्तर पर संघर्ष के कारण विकसित होता है। ३. आध्यात्मिक बल– जो वृहदेषणा से संप्राप्त होता है।

इन तीनों शक्तियों के मिलित परिणाम से मानसपट का आयाम बढ़ता जाता है। इस विस्तार का तात्पर्य केवल फूल जाना मात्र नहीं है बल्कि आयतन और भार में भी अभिवृद्धि से है। व्याप्ति, विस्तार की यात्रा लक्ष्य के 'सामीप्य' की समानुपाती है। अर्थात् जैसे-जैसे लक्ष्य परम पुरुष की दूरी घटेगी मन की व्याप्ति बढ़ेगी।

दैहिक संरचना में इन युद्धरत शक्तियों के नित्य बर्द्धमान संघर्ष के कारण भार बढ़ता है। मानसिक व्याप्ति के परिणाम स्वरूप अर्थात् आयतन और भार बढ़ने के कारण, मन व्यापक क्षेत्र के क्रिया-कलापों में अधिकाधिक कार्य क्षमता अर्जित करता है।

मानसिक विस्तार के अनुरूप दैहिक संरचना में भी रूपान्तरण होता है। जैसे जैसे विराट का आकर्षण बढ़ता है, भौतिक शरीर में भी उच्चतर मानसिक प्रयोजनीयताओं के अनुरूप सामंजस्य के लिए कुछ नयी जटिलताएँ विकसित होने लगती हैं। इसीलिए भावनात्मक दृष्टि से विकसित प्राणियों के शरीर में, विभिन्न प्रकार की क्रियाक्षमता वाली विविध ग्रंथियों की मिली-जुली संरचना देखी जाती है। सूक्ष्म क्षेत्रों में मानसिक संघर्ष का सामना करने के लिए विकसित ग्रंथियों की जटिलता अनिवार्य हो जाती है।

मानसिक विस्तार के कारण अविकसित मन अधिकाधिक सूक्ष्म होता जाता है। सूक्ष्मता बढ़ने से अणुचित्त में अपने विषयी की अनुभूति की क्षमता का विकास होने लगता है। प्रतिसंचर की प्रक्रिया में ज्यों-ज्यों जागरूक सूक्ष्मता आती जाती है, प्राणी का कर्तृभाव (अहंकार) अधिकाधिक विकसित होता जाता है। एक

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [12]

स्तर ऐसा आता है जब वह अपनी गति की प्रवृत्ति को पहचान सकता है और उसे निर्णयात्मक दिशा दे सकता है। इस अवस्था में पहुँचकर विकसित अणुमन अपने में कर्तृत्व और प्रेरणा, इच्छा शक्ति विकसित कर पूर्व उद्यम से अर्जित संवेग को इच्छानुकूल इष्ट की दिशा में अभिप्रेरित कर सकता है। प्रेरणा और कर्त्तृत्व के इस विकास के पूर्व विधेयक दिशा में अपनी अभिव्यक्ति संभव नहीं है। अतः लतागुल्म एवं पशुजीवन में (जहाँ मन अल्पविकसित है) प्राणशक्ति और मन-भूमा मन, या विराट् के अहंकार की संकल्पधारा से नियंत्रित और परिचालित होते हैं। इन अल्पविकसित लतागुल्मों एवं प्राणियों में प्रतिसंचर धारा में निश्चित प्रगति होती है क्योंकि वे विराट् मन की इच्छाशक्ति द्वारा संचालित होते हैं। ऐसा अणुमन विराट् पुरुष की विद्यामाया के मार्गदर्शन में निरन्तर उच्चतर स्तरों में उन्नत होता जाता है। ज्यों ही इसके कार्य क्षेत्र में बोधशक्ति या इच्छाशक्ति का उद्भव होता है अणुमन अपनी इच्छा के अनुसार अपनी यात्रा की दिशा चुन सकने के लिए स्वतंत्र हो जाता है अर्थात् यह प्रतिसंचर विरोधी मार्ग भी चुन सकता है। मानस विकास के इस स्तर को जहाँ विकसित अहंकार अपनी दिशा निश्चित कर सकता है और ऋणात्मक प्रतिसंचर पथ पर चलकर जड़ात्मकता की ओर भी जा सकता है- मनुष्य कहते हैं। इस स्तर पर इसमें मन और मानसिक बल का अहसास होने लगता है कि वह अपनी इच्छा के अनुसार इसका उपयोग कर सकता है।

विकास के आरंभिक स्तरों में केवल पुरुषोत्तम की संकल्प-शक्ति ही काम करती है पर मानव के विकास के स्तर पर उस एक की, और साथ ही अनेक की इच्छा तरंगे साथ-साथ काम करती हैं। विराट् भूमा का भी बल सक्रिय होता है और सीधे स्वयं

और अणुजीवों के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति करता है जबकि अणुजीव अपनी व्यक्तिगत इच्छा से खुद अपनी गति की दिशा निर्धारित करता है। इस प्रकार निर्जीव स्तर का विकास तो केवल पुरुषोत्तम के मानस संकल्प से परिचालित होता है जब कि सजीव विकास में उस एक के साथ अनेक की कल्पना भी रहती है। मनुष्येतर जीव जगत् में अणु और भूमा मन का सहयोग समन्वयात्मक रीति का नहीं होता बल्कि समस्त अणुमन भूमामन के अधीनस्थ सहयोगी के रूप में काम करते हैं। पर मानव के क्षेत्र में यह सहकारिता समन्वयात्मक और सहयोगात्मक दोनों प्रकार की है।

कर्तृभावसंपन्न मनुष्य में प्राक्तन जीवनों के अनुभव संचित रहते हैं। उसका वर्तमान क्रियागति संवेग अनागत स्तरों की यवनिका के पार नहीं देख पाता। पूर्व जन्मों का संवेग, स्वभावतः, भौतिक सुखों की ओर आकर्षण अनुभव करता है। जड़ की आसक्ति ही उसमें प्रखर है। वह भूमा की प्रेमा-भक्ति से अनभिज्ञ रहता है। यह क्षेत्र उसका अननुभूत है। अनजानी राहों की यात्रा का जोखिम कौन उठाए? जिस व्यक्ति में जड़ की चाह बसी हुई है वह आध्यात्मिक सत्य का प्रयोग करे, ऋषियों की दिखाई हुई काँटों भरी राह पर चले ऐसा साहस कहाँ से लाए?

साधारणतया कोई मनुष्य यह हिम्मत नहीं दिखाता, उल्टे वह ऐन्द्रिक सुख भोगने के लिए भी सिद्ध पुरुषों की शरण में जाता है। वह काल्पनिक देव-देवियों की सृष्टि करता है, दूसरों के द्वारा ऐसी मानसिक कल्पना प्रसूत देव-देवियों की पूजा करता है। इसी भक्ति से उसे तृप्ति, सन्तोष मिलता है। ये सब असलमें जड़ता की पूजाएँ हैं।

आधारभूत गुणधर्मिता के आधार पर मानसधातु अपने आधार का रूप- रंग ग्रहण कर लेता है। निरन्तर अपने ऊपर भौतिक

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [13]

सत्ताओं का आरोपण करने और मानससत्ता पर जड़ात्मक तरंगों का आध्याहार करते रहने से उनसे सामंजस्य के लिए जीव की मानस तरंगें भौतिक तरंगों की तारंगित दीर्घता अपना लेती हैं जिससे एक जड़ात्मक मानसिक प्रक्षेपण प्राप्त होता है। ऐसा अविकसित मन एक मनोभौतिक समान्तरता के लिए अपने प्राक्तन अनुकूल विषय से भी अधिक जड़ भौतिक संरचना चुनता है। जिधर से आए उसी राह पर वापसी की, अनुभूत मार्ग पर प्रत्यावर्त्तन की यह प्रक्रिया ऋणात्मक प्रतिसंचर है या प्रतिसंचर विरोधी है। इस ऋणात्मक प्रतिसंचर में अणुमानस पीछे की ओर लम्बी छलांग भी मार सकता है। मानसतरंग की दीर्घता या लघुता के अनुपात में उसका दैहिक आधार अविकसित मेटाजुआ, प्रोटोजुआ का रूप ले सकता है। इतना ही क्यों पत्थर, सोना, चाँदी और निर्जीव पदार्थों में परिणत हो सकता है। अर्थपिपासु पूँजीपति की मानसिक संरचना डालर या येन की मनपसन्द करेंसी के हरे पीले नोटों में कैद हो जा सकती है।

प्रतिसंचर के इस मार्ग से वापसी के बाद भी सदावत्सल भूमा मन अहंकारच्युत अणुमन को फिर भी सहायता करता है। बाहरी दबाव और भीतर के संघर्ष के कारण प्रतिसंचर की ओर आगे बढ़ने का विकासपथ फिर खुल जाता है और अणुमन अपना खोया हुआ पद फिर पा लेता है। पर यह याद रखना होगा कि इस खोई हुई मर्यादा को फिर से पाने में, संभव है लाखों, करोड़ों वर्ष लग जाएँ।

मनुष्य को केवल प्रवृद्ध अहंकार के कारण ऋणात्मक प्रतिसंचर की विपरीत दिशा में ही जाने का अवसर नहीं है क्योंकि इसी विकसित कर्त्तृभाव के कारण वह पुरुषोत्तम की ओर जा सकने का साहस भी कर सकता है। सजीव विकास के स्तर पर 'अनेक'

अणुमनों की संकल्पशक्ति उस 'एक' की समन्वयात्मक सुसंगति के साथ चलती है। अत: यदि अणुमन विकास के इस स्तर पर अपनी सामर्थ्य और संभावनाओं को भूमा की संप्राप्ति में लगा दे तो वह निश्चय ही अपनी प्रगति को तीव्रतर कर सकता है। अणुमानस का प्रारंभिक स्तर है चित्त का विकास, जब कि वह मन का स्थूलतम रूप होने के कारण अहंकार या कर्त्तृभाव रहित है, विराट् के संकल्प की धारा में बढ़ रहा है। अब विकसित कर्त्तृभाव के द्वारा वह उस गति से कई गुना अधिक वेग से पुरुषोत्तम की दिशा में बढ़ सकता है। इस आध्यात्मिक यात्रा में अणुमन क्रमश: पुरुषोत्तम का अधिकाधिक 'सामीप्य' अनुभव करता है। दोनों की निकटता बढ़ने के कारण मनदर्पण पर पड़ने वाले चैतन्य सत्ता के प्रतिबिम्ब की दूरी मिटती जाती है और दूरी घटती-घटती दोनों एकरूप हो जाते हैं। पुरुषोत्तम और अणुमन के इस परम मिलन को ही 'योग' कहते हैं।

संयोगो योग इत्युक्त: जीवात्मा परमात्मन:।

प्रतिसञ्चर की प्रेरणा से अणुमन निरन्तर विकसित और विवृद्ध होता जाता है क्योंकि उस पर पुरुषोत्तम की प्रतिछाया का घनत्व दिनानुदिन बढ़ता जाता है। यहाँ अणुमानस एक आईना की तरह काम करता है और उस पर विराट् चैतन्य की प्रतिबिम्बित छाया सूर्य की प्रतिबिम्बित किरणों की तरह ही होती है जो प्रतिबिम्बित होने के साथ स्वयं भी उस फलक से संबद्ध हो जाती है। यह सम्मिलन समान गुणवत्ता विकसित करता है। अत: पुरुषोत्तम का यह सम्पर्कित प्रतिबिम्ब अणुमानस में अपनी परम आत्मसत्ता की व्यापकता विस्तार कर उसकी अणुसत्ता की क्षुद्रता या एकांशता की यात्रा का चरम लक्ष्य संप्राप्त करा देता है। इस प्रकार भूमा और अणु के समान होकर इस मिलन या 'संयोग' की चरम परिणति

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [14]

होती है भूमा और अणु के एक हो जाने में, जब वह क्षुद्र अणुमन विराट् मन में मिलकर एक हो जाता है। इसी अवस्था का नाम मुक्ति है।

इस प्रकार यदि अणुमानस का क्षुद्र कर्त्तृभाव असीम को अपना विषय बना ले तो क्रमशः विस्तृत, व्यापक होता हुआ, विकसित मन अन्त में पुरुषोत्तम के साथ मिलकर एक रूप हो जाता है। यह अवस्था मानसिक मुक्ति के सिवा कुछ नहीं है। यहाँ मनस्तात्त्विक दर्शन का एक सिद्धान्त काम करता है। विषय की एकता से विषयीगत एकता परिणमित होती है। इस प्रकार जब अणुमन का विषय, विराट् मन के विषय के रूप में परिणत हो जाता है तब अणुमन का कर्तृपक्ष जीवात्मा, विराट्मन के कर्तृपक्ष पुरुषोत्तम में रूपान्तरित हो जाता है।

हमारे ईश्वर प्रणिधान का आधारभूत सिद्धान्त इसी मानसाध्यात्मिक दर्शन पर प्रतिष्ठित है।

जमालपुर, २८/०५/१९५९

३. भूत, तन्मात्र और इन्द्रिय तत्व

सञ्चर विश्लेषणात्मक प्रक्रिया है। अतः यह एक को अनेक में विभाजित करती है। इसके प्रसार विधायी वैशिष्ट्य के पीछे अविद्या माया की क्रियात्मक शक्ति काम करती है। इस सञ्चर विकास के निम्न स्तरों में अपने विशेष गुण धर्मों के साथ 'भूत' उपस्थित होते हैं।

भूत शब्द का वाच्यार्थ है 'जो हुआ है'। सामान्य अर्थों में भूत से 'बीता हुआ' या अतीत काल समझा जाता है। कहा जा चुका है कि पुरुषोत्तम (चैतन्य) पर सत्त्वगुण के प्रभाव से 'महत्' का उद्‌भव होता है, इस पर रजोगुण के क्रियान्वयन से महत् रूपान्तरित होकर अहंकार का विकास होता है और अन्त में इस अहंकार पर तमोगुण के प्रभाव से इसका एक भाग, जो पहले कर्तृभावापन्न था अब कर्म के रूप में भूमा चित्त बन जाता है। महत् अहंकार और चित्त का समाहार ही भूमा मानस या ब्राह्मी मन कहा जाता है। ब्राह्मी चित्त के रूप में अभिव्यक्ति के पूर्व भूमाचैतन्य के भिन्न स्तरों में जो विकास कहे गये हैं वे सच्चे अर्थों में विषय रूप में व्यक्त नहीं होते। अतः इसके मानसिक प्रसार का युक्ति बुद्धि से प्रतिपादन किये बिना भूमा मानस के अस्तित्व की प्रतिष्ठा नहीं की जा सकती।

चित्त के विकास के बाद भी तमोगुणी प्रकृति भूमा चित्त पर अपना दबाव बढ़ाती ही चली जाती है जिससे एक ओर उसका घनत्व बढ़ता जाता है या कहें तो अन्तर आणविक और परमाणविक 'आकाश' या रिक्तता घटती चली जाती है दूसरी ओर रासायनिक

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [15]

सम्बन्ध बढ़ता जाता है। रासायनिक संहति की वृद्धि के पहले चरण में जो घनत्व या जड़ात्मकता आती है उसमें केवल ध्वनितरंगों के संचार की क्षमता होती है। इस प्रकार जब चित्त कुछ घनीभूत होकर ध्वनितरंगों के संवहन की क्षमता पा लेता है तब उसे आकाश तत्त्व कहते हैं। यह आकाश तत्त्व भौतिक विकास का पहला स्तर है।

भूततत्व : तमोगुणी प्रभाव चुप नहीं बैठता। उसका दबाव बढ़ता जाता है और अधिकतर रासायनिक संश्लेषण भी बढ़ता जाता है; अन्तर आणविक परमाणविक रिक्तता घटती जाती है। निश्चयात्मक रूप से जब आकाश से स्पष्ट घना स्तर आ जाता है जो भौतिक विकास का दूसरा स्तर कहा जाएगा। यह स्तर ध्वनि तरंगों के अतिरिक्त स्पर्श की तरंगों के संवहन में सक्षम होता है। यह दूसरा स्तर वायुभूत है।

तमोगुण के निरन्तर दबाव से वायुभूत के सूक्ष्म अणु-परमाणुओं में परस्पर स्पर्शगत सन्निधि बढ़कर अन्तर संघर्ष बढ़ने के कारण प्रकाश के स्फुलिंग छिटकने लगते हैं। इस प्रकार वायुभूत घनीभूत होकर शनैःशनैः ज्योतिर्मय स्तर या तेजस् तत्त्व में रूपान्तरित हो जाता है। यह विकास रूपतन्मात्र का संवहन करता है।

तमोगुण के और भी दबाव से पहले द्रव अथवा अप् और अन्त में स्थूल संरचना आती है। द्रव की पहचान रसन अर्थात् स्वाद और बहने से होती है। अप् तत्त्व शब्द, स्पर्श और रूप तरंगों के अतिरिक्त स्वाद की तरंगों का भी संवहन करता है और इससे स्थूलतर संरचना क्षिति इनके अतिरिक्त गन्धतरंगों के संचरण का माध्यम होती है।

ये रूपान्तरण कोई चटपट अचानक नहीं हो जाते। ये क्रम से

होने वाले परिवर्तन हैं। चित्त और आकाश का मध्यवर्ती स्तर न तो भावात्मक है और न पदार्थगत अवस्था है। इसी प्रकार सूर्य वायुतत्त्व और तेजस् तत्त्व का मध्यवर्ती है। हमारी यह पृथ्वी अपने विकास के प्रारम्भिक स्तर में न तो तेजस् थी और न द्रव ही थी। दीर्घ काल में क्रम-क्रम से पहले यह एक 'द्रव' की अवस्था में आई और फिर धीरे-धीरे इसका ऊपरी सतह ठोस होता गया। आज भी हमारी पृथ्वी का भीतरी भाग द्रव है और बिल्कुल भीतरी हिस्से में गैस या वायवीय और तेजोमय भाग अभी भी द्रवीभूत हो रहा है।

प्रत्येक भूत बोध और अवधारणा की किसी न किसी परिधि में अवश्य लक्षित होता है। अतः हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ उन्हें पहचानकर उनका वर्गीकरण कर लेती हैं। इन पाँचों भूतों के अनेकानेक मिश्रण पहले चरण में निर्जीव विकास में और दूसरे चरण में सजीव विकास में परिलक्षित होते हैं। सजीव जगत् का प्रारंभ ही प्रतिसंचर विकास की प्रक्रिया का सूत्रपात है।

स्थूल की जड़तम अभिव्यक्ति संचर का अन्तिम चरण है। इसी चरण में उसमें क्रियाशील शक्ति या प्राण, प्राणाः या जीवनी शक्ति में परिणत हो जाती है। यह प्राणशक्ति सीधे तौर पर जीवन के विकास का कारण होती है और सजीव दैहिक संरचना के क्रियाकलापों का नियंत्रण करती है। इसी के बाद प्रतिसंचर का वृत्त प्राण और मन के समन्वयात्मक सहयोग से अपनी विकास लीला प्रारंभ कर देता है। पर प्राणशक्ति की अभिव्यक्ति के लिए अनुकूल संवेदनात्मक परिस्थितियों के अभाव में (जैसा कि मृत या मृतप्राय खगोलीय ग्रहादि में होता है) भौतिक संरचना में निरन्तर बढ़ते हुए आन्तरिक दबाव के कारण विस्फोट हो जाता है। इसे ही जड़स्फोट कहते हैं। इस जड़स्फोट के कारण बिखरे हुये अवयव

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [16]

या टुकड़े अपने मूल तत्त्वों में मिल जाते हैं। जिस जड़स्फोट के कारण स्थूलतम जड़तत्त्व पुन: कुछ सूक्ष्म तत्त्वों में परिणत हो जाता है, उसे ऋणात्मक सञ्चर कह सकते हैं। इस ऋणात्मक सञ्चर या जड़स्फोट के कारण कोई स्थूल तत्त्व, सूक्ष्मतम भौतिक तत्त्व 'आकाश' से सूक्ष्मतर अवस्था में परिणत नहीं हो सकता। यदि ऐसा होता तो, (अर्थात् इससे सूक्ष्मतर अवस्था 'चित्त' में परिणत होता तो) इसका अर्थ होता भूमा मानस की संकल्पधारा की तरंगों का प्रत्याहरण।

इस प्रकरण में जो युक्तिसंगत बात कही जा सकती है वह यही है कि ये पञ्चभूत कोई नये पदार्थ नहीं हैं बल्कि भूमाचित्त की घनीभूत स्थितियाँ हैं जो सञ्चर विकास के भिन्न स्तरों में तमोगुणी प्रकृति के बाहरी दबाव के कारण अन्तर आणविक एवं परमाणविक रिक्तियों या अवकाश के घटने तथा सम्पर्कगत रासायनिक सुसंगति की वृद्धि से अभिव्यक्त होती है।

तन्मात्र तत्त्व : तत् + मात्र = तन्मात्र। संस्कृत में तत् का अर्थ है वह और मात्र का अर्थ है– 'सूक्ष्मतम अंश'। इस प्रकार तन्मात्र शब्द का अर्थ है– उसका सूक्ष्मतम अंश, किसी भूत या तत्त्व का सूक्ष्मतम भाग। आनन्दमार्ग के दर्शन के अनुसार ब्रह्मचक्र उस विराट् का लीलानृत्य है जिसमें सारे सृष्ट अणु भूमा के मायामय मंत्र से बिंधे आवेश में, आच्छन्न भाव से काल के लय, छन्द और ताल पर झूमते हुए उसके दिशा-निर्देश में संचरणशील हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है प्रत्येक सृष्ट अणुसत्ता भूमा के विराट् कायिक विस्तार में तरंग का छोटा सा एकांश है। इस प्रकार आनन्द मार्ग का दर्शन वर्तमान भौतिक विज्ञान के तारंगिक अस्तित्व के सिद्धान्त को प्रतिष्ठापित करता है। पर इसका अपना स्वतंत्र युक्तिपूर्ण दृष्टिकोण है। इसके अनुसार जीवन है एक तरंगमय

महोदधि मात्र।

आकाश से स्थूल क्षिति तक एक अनन्त तरंगमय प्रवाह है। भूततत्त्व का अस्तित्व ही तरंगों का मात्र एक नमूना, एक भेद है; विराट् तरंगजाल के सूक्ष्मतम भग्नांशों का हमारे चित्त और ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा गृहीत सामूहिक रूप। वे क्षुद्रतम भग्नांश ही तन्मात्र हैं जो तरंगजाल में वाहित हो रहे हैं। अत: तन्मात्र है किसी स्थूल सत्ता पर सूक्ष्मतर सत्ता के प्रतिफलन से उद्भूत तारंगिक अवस्थिति; अत: गणित की भाषा में कहें तो तन्मात्र कोई समरूप स्थिति नहीं है। वे स्वभाव से विषम हैं और उनकी यह विषमता ही इन्द्रिय गोचर बहिर्जगत् में प्रत्यक्षीकरण की विविधताओं को जन्म देती है। यह विषमता किसी खास भूत के क्षेत्र के अन्तर्गत या बाहर विभिन्न तन्मात्रों की तारंगिक दीर्घताओं के अन्तर से स्पष्ट हो जाती है।

आकाश भूत यथार्थ में एक सैद्धान्तिक अस्तित्व है और तुलनात्मक रूप से अन्य चार भूतों से सूक्ष्मतम है। अत: इसकी तारंगिक दीर्घता सबसे अधिक है और इसका प्रवाह भौतिक अवरोध से बाधित नहीं है। अर्थात् इसके प्रवाह को कोई बाधा नहीं होती। पर शेष भूतों को कुछ बाधा होती है। कोई भी तरंग तभी मुक्त रूप से गतिशील हो सकती है यदि वह पूर्ववर्ती अन्य तरंगों और उनकी वक्रताओं के साथ समरूप हो। यदि किसी स्थूलतर तरंग से भौतिक बाधा या अवरोध न हो तो कोई तरंग किसी पदार्थ के बीच से निकल जा सकती है अर्थात् सूक्ष्मतर तरंगें स्थूलतर तरंगों के बीच से राह नहीं पा सकतीं और ऐसी अवस्थाओं से सदा ही भौतिक विविधताओं के निर्माण के लिए कारणीभूत तारंगिक सामञ्जस्य रहता है। तारङ्गिक दीर्घताओं के उचित अनुकूल सामञ्जस्य का अर्थ है तरंगों के दो विरामों सात्विक विराम और तामसिक विरामों के बीच सामञ्जस्य। तारङ्गिक दीर्घता के एकांश में

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [17]

ऊर्ध्वमुख संवेग का चरम बिन्दु जहाँ शून्य होकर निम्नमुख संवेग प्रारंभ होता है सात्विक विराम है और निम्नमुख संवेग का चरम बिन्दु जहाँ शून्य होकर ऊर्ध्वमुख संवेग प्रारंभ होगा तामसी विराम है। भौतिक विज्ञान की भाषा में ये शिखर और गर्त्त है। किसी भूत या तत्त्व की तारङ्गिक दीर्घता जितनी अधिक होगी उसमें बीच से किसी तरङ्ग के निकल जाने रूप द्वन्द्वोत्सुक तरंगों में सामञ्जस्य की संभावना उतनी अधिक होगी।

किसी माध्यम होकर निकल जाने वाली तरङ्ग ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं होती पर जब किसी तरङ्ग का पथ बाधित होकर वह प्रत्यावर्तित हो जाती है तभी उसका अस्तित्व ज्ञानेन्द्रियों का विषय बन पाता है।

यथार्थ प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया का विवेचन किया जाए। प्रत्यक्षीकरण कैसे होता है? पहले कहा जा चुका है कि किसी भौतिक संरचना का अस्तित्व एक निरन्तर तारङ्गिक स्पन्दन की संहति के अतिरिक्त कुछ नहीं है। अस्तित्व मात्र का तात्पर्य है अविराम गति। ये स्पन्दन तरङ्ग निर्माण करते हैं जो इन्द्रियों के द्वारपट पर आघात करते हैं। इन से संज्ञावाही नाड़ियों में अनुकूल तरङ्गे स्पन्दित होकर नाड़ीरस या द्रव के माध्यम से मस्तिष्क केन्द्र में स्थित यथार्थ इन्द्रियों तक पहुँचती हैं। मस्तिष्क में अणुचित्त स्पन्दित होता है जिसका अहंकार प्रत्यक्षीकरण करता सा अनुभव करता है। चित्त का यह स्पन्दन ही अहंकार का विषयग्रहण या प्रत्यक्षीकरण है। उदाहरण के लिए जब किसी वस्तु से आती हुई प्रकाश की किरणों के द्वारा दृष्टिपट पर आघात से चाक्षुषी नाड़ियों के चाक्षुष द्रव में वैसा ही स्पन्दन मस्तिष्क केन्द्र में 'चक्षु' इन्द्रिय तक पहुँचता है। चित्तगत यही स्पन्दन वस्तु का रूप होता है और अहंकार को इसे देखने की अनुभूति होती है। इस प्रकार प्रत्यक्षीकरण

की वास्तविक प्रक्रिया तो भिन्न इन्द्रियों के द्वारों से भिन्न-भिन्न ऐन्द्रिक नाड़ियों के द्रवों के माध्यम से संचरित होकर मस्तिष्क केन्द्र में स्थित इन्द्रियों में स्पन्दनों के पहुँचने से पूरी होती है। यही प्रक्रिया स्वाद या रसन अथवा अन्य तीनों ऐन्द्रिक प्रत्यक्षीकरणों में भी लागू होती है। यदि कोई संज्ञावाहिनी नाड़ी दोषपूर्ण हो तो अहंकार को उससे सम्बन्धित प्रत्यक्ष नहीं होगा। तात्पर्य है कि विषयगत प्रत्यक्षीकरण संज्ञावाहिनी नाड़ियों के गुण-दोषों पर निर्भर है। किसी वस्तु से उत्सरित स्पन्दन तरङ्गों को 'बहिर्गामी तन्मात्र' और संज्ञावाही नाड़ियों के द्वारा उपलब्ध तरङ्गों को अन्तर्गामी तन्मात्र कहेंगे।

इन्द्रिय तत्त्व : मन स्वामी है। वह ज्ञानेन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण करता है और कर्मेन्द्रियों के द्वारा आदेश भी करता है। स्वयं कार्यरत भी होता है। इन्द्रियाँ दस हैं। पाँच ज्ञानेंद्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ। ज्ञानेन्द्रियों का विषय है तन्मात्र ग्रहण करना और कर्मेन्द्रियों का विषय है अन्तर्हित संस्कारों के अनुकूल तन्मात्र निर्माण करना और उनकी बाह्याभिव्यक्ति। इस सन्दर्भ में एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि तन्मात्र निर्माण की व्यापक क्षमता आकाश हो अथवा क्षितिभूत सब में समान है। ऐन्द्रिक प्रत्यक्षीकरणों की संख्या में कोई वृद्धि प्रत्यक्षीकरण की क्षमता या तीव्रता के सर्वयोग को प्रभावित नहीं करती, वह गणित की शैली में स्थिर रहती है। यदि स्थूल क्षिति समान तीव्रता से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तन्मात्र का प्रसारण करे तो इसका तात्पर्य यह नहीं होगा कि क्षिति के प्रत्येक तन्मात्र का प्रत्यक्षीकरण आकाशतत्त्व के द्वारा प्रसारित शब्द तन्मात्र की तीव्रता के समान होगा। एकमात्र शब्द तन्मात्र के प्रसारण में सक्षम होने के कारण आकाशतत्त्व में ध्वनि प्रसारण क्षमता बहुविध तन्मात्र संज्ञान प्रक्रिया वाले क्षितितत्त्व

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [18]

से प्रसारित होने वाले पाँचों तन्मात्रों की मिलित क्षमता और तीव्रता के समान है अर्थात् पाँचों तन्मात्रों में क्षिति की क्षमता बँट जाती है अन्यथा दोनों की मात्रा समान है।

ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं। १. कर्ण २. त्वक् ३. चक्षु ४. रसना या जिह्वा एवं ५. नासिका। इनके विषय हैं कर्ण का श्रवण अर्थात् सुनना, त्वक् का स्पर्शन अर्थात् छूना, चक्षु का दर्शन या देखना, रसना या जिह्वा का आस्वादन या स्वाद लेना और नासिका का आघ्राण या सूँघना। प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया के अनुसार ये मन को तन्मात्र ग्रहण करने में सहायता करती हैं।

कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच हैं–

१) वाक् का विषय है कथन- बोलना

२) पाणि-हाथ का विषय है शिल्पन या काम करना

३) पाद-पैर का विषय है चरण अर्थात् चलना

४) पायु-गुदा का विषय है वर्जन अर्थात् मलोत्सर्ग या मलविसर्जन

५) उपस्थ- या प्रजनन यंत्र विषय है सन्तानोत्पत्ति

इन्द्रिय	*निर्गम मार्ग*	*नियंत्रक नाड़ी*
उपस्थ	शुक्र नाड़ी	औपस्थ्य (प्रजनन यंत्रो का नियंत्रण)
पायु	१) शङ्खिनी	१) अश्विनी पायु की नियंत्रक
	२) वज्राणी	२) कुहू (मूत्रनलिका की नियंत्रक)

जमालपुर, २९/०५/१९५९

४. मन, प्राणेन्द्रिय और वृत्ति

संचर विकास की प्रक्रिया में परम पुरुष की सत्ता ही अपनी परा शक्ति के प्रभाव से महत्, अहंकार और चित्त के स्तरों में रूपान्तरित होती है। पहले दो स्तरों में यह बन्धन मूलत: सैद्धान्तिक है क्योंकि इन दोनों बन्धनों में गति या स्पन्दन देश, काल, पात्र, निरपेक्ष अवरोध रहित होने के कारण ये स्तर प्रत्यक्षीकरण के क्षेत्र में नहीं आते। तीसरे स्तर में वह पुरुष सत्ता, तमोगुण के प्रभाव से 'विषयरूप' में परिणत होती है। विषयीरूप अहंकार अपने आपके विषयरूप में विवर्तित इसी रूप का स्वगत प्रत्यक्षीकरण करता है। इन्हीं तीन, महत्, अहंकार और चित्त के समन्वित संहति का नाम मन है। प्रतिसंचर की प्रक्रिया में स्थूलतम जड़, विभाजन और चूर्णीकरण के क्रम से सूक्ष्म अवयवों में रूपान्तरित होकर अणुमन का विकास होता है। धातुगत दृष्टि से अणु मन और भूमामन एक ही प्रकार के हैं। भूमा मन का विकास सञ्चर प्रक्रिया में अन्तर्लीन प्रकृति के प्रभाव से होता है जबकि अणुमन का विकास प्रतिसञ्चर की प्रक्रिया में विराट् सत्ता के संघर्षरत कणों के द्वारा होता है।

बहिर्मुखी अवस्था में भूमा और अणु दोनों में तमोगुण की प्रधानता रहती है और अन्तर्मुखी स्तर में सत्वगुण की प्रधानता होती है। पर दोनों ही स्तरों में तीनों गुण वर्तमान रहते हैं। ये ही क्यों? निर्गुण ब्रह्म में भी इन तीनों का अभाव नहीं है। पर यहाँ परा शान्ति की अवस्था है क्योंकि यहाँ तीनों शक्तियाँ सन्तुलित शैली में हैं। अत: निर्गुण ब्रह्म में तरङ्गगत गुंजन नहीं है। बाहर भीतर कोई द्वन्द्व नहीं है। नित्य क्रियाशीला प्रकृति यहाँ बिल्कुल

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [19]

शान्त अवस्था में है। परमात्म सत्ता की संप्रभुता अक्षुण्ण रहती है। तन्त्र में प्रकृति के इस अव्यक्त स्वरूप को 'अनुच्छून्या' प्रकृति कहते हैं। यह अनुच्छून्या प्रकृति ही व्यक्ता प्रकृति का कारण या बीज स्तर है। यह मात्र सिद्धान्तगत है। इस अनुच्छून्न प्रकृति में क्षोभ की दशा में तीनों आधारभूत शक्तियाँ क्रियाशील हैं और उनके अभिव्यक्त स्वभाव के कारण सगुण ब्रह्म या विषयीभावापन्न परमपुरुष की निर्वैयक्तिक अभिव्यक्ति है। उच्छून्न प्रकृति की क्रियाक्षमता या क्रियाभिव्यक्ति में सगुण ब्रह्म प्रदर्शित होता है। ये तीन अभिव्यक्तियाँ– सत्त्व, रज: और तम: मूल क्रियात्मक शक्तियाँ हैं। इन्हें संस्कृत में गुण कहते हैं। ये नाम इनके कार्यों के आधार पर दिए गए हैं और सृष्ट जगत् की विविधताओं का आधार इनमें एक की तुलनात्मक रूप से अन्य दो पर प्रबलता है। संचर और प्रतिसञ्चर अर्थात् विराट् के व्यापक सर्वेक्षण में परम पुरुष का परम उत्कर्ष इन तीन मौलिक शक्तियों के प्रभाव से दब सा गया है।

किसी संरचना पर एक बल या शक्ति की सक्रियता का मतलब है उस का आपेक्षिक स्थान परिवर्तन। इसीलिए मन के विकास में उस विराट् सत्ता के अनन्त अन्तर आकाश या देश में एक प्रकार का स्थानीय परिवर्तन अवश्य घटित होता है। यद्यपि भूमा मन बृहद् है, विशाल है पर इसीलिए सीमित है और अपनी स्थानीय विशेषताओं के कारण वह निरपेक्ष परम सत्ता नहीं हो सकती।

विषय के बिना मन का अस्तित्व नहीं रह सकता। अपने विकास के क्रम में मन को स्वत: ही 'अहंकार' का तमोगुण से अवरुद्ध स्वरूप अर्थात् चित्त विषय के रूप में प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार मूल मानसिक विषयभाव यथार्थ में एक स्वत: प्रक्षिप्त विषय है। भूमा मन या विराट् मन वहाँ है जहाँ प्रक्षिप्त विषय

प्रक्षेपक सत्ता के साथ निकटतम सम्बन्ध बनाए रखकर सामवायिक संहति के रूप में व्यक्त होता है और जहाँ अणु मन है वहाँ यह प्रक्षिप्त विषय चतुर्दिक् व्याप्त अन्य विविधताओं से स्वतंत्र और प्रक्षेपक यंत्ररूप मन से भी पृथक् प्रतीत होता है। अत: भूमा मन के इस प्रक्षिप्त विषय भाव में न तो विविधता है और न वह बहिर्गत है पर अणुमन में यह विविधताओं से भरा और अपने अस्तित्व से भी बहिर्गत है।

भूमा और अणुमन में एक और महत्त्वपूर्ण अन्तर उनकी संकल्प शक्तियों में है। भूमा के सहज संकल्पनात्मक स्पंदन से वह एक अनेक में रूपायित हो जाता है जब कि यह अणु मन के लिए भौतिक जगत् का मौलिक सत्य प्रकट होता है। अणुमन की कल्पना प्रक्रिया भौतिक जगत् में कोई वस्तुगत सत्ता नहीं उत्पन्न कर सकती है। सम्मोहन की अवस्था अथवा 'भूत प्रेत' पकड़ने की दशा में अणुमन का मानस चित्त प्रक्षिप्त होकर सत्य प्रतीत होता है। पर इसमें सचमुच कोई यथार्थ वास्तविकता नहीं होती। भौतिक जगत् में अणुमन इसकी भौतिक संरचनाओं में जो कुछ निर्माण करता है वह यथार्थ में भूमामन के द्वारा संचर विकास प्रक्रिया में सृष्ट भौतिक पंचभूतों में रासायनिक और भौतिक रूपान्तरण मात्र होता है।

प्राणेन्द्रिय : भूमा मन की सञ्चर और प्रतिसञ्चर क्रियाओं में, भौतिक संरचना में सदा ही तमोगुणी प्रकृति का बाह्य दबाव बना रहता है। इस प्रकार भौतिक संरचना में आन्तरिक एवं बाह्य बलों के परिणामभूत बल को प्राण कहते हैं एवं पाँच अन्तर्वायु— प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान तथा पाँच बहिर्वायु- नाग, कूर्म, क्रिकर, देवदत्त और धनंजय के समन्वयात्मक परिणामभूत बल या क्रियात्मक स्वरूप को प्राणा: कहते हैं।

इन्द्रियाँ यथार्थत: मस्तिष्क केन्द्र में हैं न कि शरीर के बाहरी हिस्सों में हैं, जैसा कि साधारण तौर पर लोग समझते हैं। तब शरीर के बाहरी स्तर या सतह पर इन्द्रियों के द्वार हैं जो वस्तु जगत् से निकलने वाले तन्मात्र ग्रहण करते हैं। इन द्वारों से प्राप्त तन्मात्र व्यक्ति के संचित संस्कारों के अनुरूप मानसिक विषयों में रूपान्तरित हो जाते हैं। प्राणेन्द्रिय हृदय में स्थित है। धड़कने वाले हृदय में नहीं बल्कि योग में जिस केन्द्र को हृदय कहते हैं वहाँ है। यह अनाहत चक्र के मध्य बिन्दु में स्थित है। इन्द्रियों की गिनती में प्राणेन्द्रिय का नाम नहीं आता। एक कारण तो यह है कि अन्य इन्द्रियों की नियंत्रक बिन्दु या स्थान से यह अन्यत्र है। दूसरा कारण है कि दसों इन्द्रियों का काम तत्त्वों या उनके तन्मात्रों को ग्रहण करना है पर प्राणेन्द्रिय दस वायुओं का मिलित स्वरूप है और जैसा ज्ञात है वायु स्वयं एक भूत या मौलिक तत्त्व है जो व्योमतत्त्व का घनीभूत रूप है। इस प्रकार इन्द्रियाँ भूततत्त्वों या तन्मात्रों को सक्रिय करती हैं एवं उन्हें ग्रहण करती हैं जब कि प्राणेन्द्रिय स्वयं दस वायुओं के विश्लिष्ट उपविभाजनों का समन्वित क्रिया-कलाप है।

प्राणेन्द्रिय का देहगत एवं मनोदेहगत स्तर पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्राणेन्द्रिय की प्रत्येक क्रिया स्पन्दनात्मक या संकोच विकासात्मक है। प्राणेन्द्रिय की तरङ्ग का प्रवाह वैकल्पिक गति और विराम की एकतानता में है। विराम की दशा में जब गति अगति में संभावित बीज रूप में रहती है, चित्त तन्मात्र ग्रहण करने में समर्थ होता है और उन तन्मात्रों के द्वारा प्रस्तुत बिम्ब ग्रहण करता है। यदि चित्त आते हुए तन्मात्रों से स्पन्दित होकर तदनुकूल बिम्ब ग्रहण न करे तो किसी प्रकार का प्रत्यक्षीकरण नहीं होगा क्योंकि अहंकार तभी सक्रिय होगा जब चित्त रूपायित हो।

एक साधारण से अनुभव का विश्लेषण कर इसको समझा जा सकता है। तन्मात्र नि:सरण करने वाला विषय उपस्थित हो और संज्ञावाही नाड़ी ठीक-ठीक काम कर रही हो फिर भी यदि चित्त तन्मात्र ग्रहण न कर पाए तो प्रत्यक्षीकरण नहीं होगा। यदि कोई चलते हुए या दौड़ते हुए खाए तो उसे पूरा-पूरा स्वाद नहीं मिलेगा क्योंकि उस अवस्था में चित्त तन्मात्र ग्रहण करने में समर्थ नहीं होगा। किसी शारीरिक और मानसिक काम में लगा रह कर कोई व्यक्ति दूसरे भाव को साथ-साथ ग्रहण नहीं कर सकता। इसका रहस्य प्राणेंद्रिय के पास है। प्राणेंद्रिय की क्षमता के अनुसार वह जिस रूप में प्रवाहित है उसी में सारी नाड़ियाँ प्रवाहित हो सकेंगी। इसका मतलब है यदि प्राणेंद्रिय प्रसार के स्तर में है और संकोच के स्तर में नहीं है तो चित्त के साथ प्रत्येक नाड़ी उसी की तारंगिक दीर्घता में प्रसार के स्तर में रहेगी। परिणामत: अंतर आयामी तन्मात्र बाधित हो जाएंगे और वे चित्त को सक्रिय नहीं कर सकेंगे। इस प्रकार प्रत्यक्षीकरण में या तो कठिनाई होगी या वह प्रत्यक्षीकरण होगा ही नहीं। अत: प्रत्यक्षीकरण के लिए सारे उपयोगी तत्त्व अच्छी तरह से काम करते रहने पर भी प्राणेंद्रिय अपने विकासात्मक स्तर में चित्त और नाड़ियों को अनुकूल भाव से स्पंदित करने में समर्थ होकर आने वाले तन्मात्रों को बाधित कर लेगा। पर यदि प्राणेंद्रिय संकोची या विराम की दशा में हो तो पूरे मानस दैहिक संरचना में ऐसी शांतिपूर्ण स्थिति आएगी जिसमें ठीक-ठीक प्रत्यक्षीकरण संभव होगा। प्राणेंद्रिय, इस प्रकार यथार्थ में अन्य इन्द्रियों को परोक्ष रूप से तन्मात्र ग्रहण कराने में और चित्त को यथार्थ रूप से प्रत्यक्षीकरण करने में सहायक होकर अहंकार को उसका परिचय कराती है। प्राणायाम के अभ्यास के पीछे यही मनस्तात्त्विक भाव है। प्राणायाम में साधक अपनी

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [21]

प्राणेंद्रिय को विराम की स्थिति में दीर्घकाल तक रखना चाहता है जिससे कि विरमित अणुमन चैतन्य के महासमुद्र में लय हो कर अतिमानस स्तर की अनुभूति ले सके। दैनिक जीवन में कोमल-कठोर कर्कश-मधुर, शीत और ताप हमारे अनुभव में प्राणेंद्रिय के द्वारा ही आते हैं। ये द्वैत अनुभव पाँच मौलिक प्रत्यक्षीकरण में श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, आस्वादन और आघ्राण की सीमा में नहीं आते हैं। ये उपर्युक्त सूक्ष्मतर अनुभव जो जड़ भौतिकताओं में नहीं आते हैं। प्राणेंद्रिय के द्वारा अनुभूत होते हैं। प्राणेंद्रिय का विशेष कार्य है विविध अनुभूत प्रत्यक्षीकरणों और मानसिक प्रसारणों के बीच अपने विषय की पहचान करना।

प्राणेंद्रिय और भी कई अंदरूनी मानसिक क्रियाओं में सहायक शक्ति का काम करती है। जैसे प्राणेंद्रिय के द्वारा ही यह अनुभव होता है कि कोई व्यक्ति बहुत दयालु है; बड़ा मिलनसार है; बड़ा प्यारा है, या इसके विपरीत कोई व्यक्ति निर्दय और क्रूर। ऐसे अनुभव बहुत कुछ तो विषयीगत होते हैं और किसी बाहरी विषयगत संबंधों पर निर्भर नहीं रहते।

कुछ दर्शनों में प्राणेंद्रिय के लिए भोगेंद्रिय शब्द का व्यवहार हुआ है पर इस इंद्रिय के सार तत्त्व की अभिव्यक्ति के लिए अधिक उपयुक्त शब्द होगा बोध विविक्ति और अन्य मौलिक इंद्रियों को सुविधा से बोधेंद्रिय कहा जा सकता है।

वृत्ति : मन ब्रह्मचक्र की प्रक्रिया में एक अवस्था है। स्थान परिवर्तन के फलस्वरूप यह निश्चयात्मक रूप से गति की प्रक्रिया का एक स्तर है जो एक संवेग को अभिव्यक्त करता है। अभिव्यक्ति के लिए मन कुछ चित्तानुगत प्रक्रिया अपनाता है। इन्हें (प्यार, घृणा, भय आदि को) ही वृत्ति कहते हैं। दूसरे शब्दों में वृत्ति को मन की अभिव्यक्ति के मार्ग के रूप में परिभाषित कर सकते हैं। दूसरे शब्दों

में इन वृत्तियों को अभिव्यक्त मनोभाव भी कह सकते हैं। जो मनोभाव गौण ग्रंथियों को प्रभावित करते हैं। उन्हें सहज ज्ञान सा इन्सटिंक्ट कहते हैं। गौण ग्रंथियों से तात्पर्य आज्ञाचक्र और सहस्रारचक्र के अतिरिक्त अन्य ग्रंथियाँ है। कुछ मनस्तात्त्विक सहज ज्ञान को संचित मनोभाव कहते हैं। इस से उनका तात्पर्य है कि सहज ज्ञान मनोभाव के परवर्ती स्तर हैं अर्थात् सहज ज्ञान तब विकसित होते हैं जब मनोभाव अभ्यस्त हो जाते हैं। पर यह व्याख्या मात्र सैद्धान्तिक है। प्रत्येक साधक व्यावहारिक रूप से मनोवैज्ञानिक होता है और वह अनुभव करता है कि सहजज्ञान गौण ग्रंथियों को प्रभावित करने वाले मनोभाव मात्र हैं।

ये गौण ग्रन्थियाँ इन्द्रियों के उपकेन्द्र हैं जिनका मुख्य नियंत्रणकेन्द्र मस्तिष्क में अवस्थित है। संकल्प-विकल्पात्मक मन के विकास के लिए एवं बाहरी तरङ्ग उत्पादन के लिए इन इन्द्रियों की सहायता लेनी ही पड़ेगी। जब आन्तरिक वृत्तियाँ विराट की ओर ले जाती हैं तब उन्हें संकल्पात्मक कहते हैं और जब वे सांसारिक जड़ता की ओर ले जाती हैं तब उन्हें विकल्पात्मक कहते हैं। जड़ अभिव्यक्ति एवं अन्य भौतिक सतह पर बाह्य तरङ्गों के अस्तित्व के लिए यह सहायता आवश्यक है। सूक्ष्म मस्तिष्क सीधे ही काम नहीं करता। इसके लिए उसे कई जड़तर उपकेन्द्र चाहिए। आन्तरिक संस्कारों के अन्य अभिप्रकाशों के लिए भी नाड़ियों और रक्त में तरङ्गों की आवश्यकता है। ये मानसिक उपकेन्द्र रक्त प्रवाह एवं नाड़ियों की शक्ति के अनुरूप ऐसी तरङ्गें प्रसारित करती रहती हैं।

प्रत्येक वृत्ति का बीज मस्तिष्क केन्द्र में है। पर उनका पहला अभिप्रकाश इन उपकेन्द्रों पर होता है। ग्रन्थियों या मन के उपकेन्द्रों के द्वारा सृष्ट होकर केन्द्रापगा नाड़ियों के द्वारा व्यक्त होते हैं। पर इनकी सक्रियता का रहस्य मन की इन ग्रंथियों और उपकेन्द्रों में

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [22]

छिपा हुआ है।

वृत्तियों की संख्या दैहिक संरचना की जटिलताओं पर निर्भर करती है। संरचना जितनी जटिल होगी वृत्तियों की संख्या उतनी अधिक होगी। इसीलिए अधिक विकसित पशु में अल्प विकसित पशुओं से अधिक वृत्तियाँ होती हैं। सामान्यतया मानवी संरचना में एक हजार वृत्तियाँ होती हैं। इनमें से साधारण जड़ विकास और अभिव्यक्ति के स्तर में वे पचास हैं। इनका योगफल एक हजार होने के कारण इन हजार वृत्तियों के बीज मस्तिष्क केन्द्र में हैं। मस्तिष्क केन्द्र या पीनियल ग्लैंड में हजार वृत्तियों के बीज होने के कारण योगियों ने इस चक्र का नाम सहस्रार चक्र रख छोड़ा है। गौण ग्रन्थियाँ ४८ वृत्तियों का नियंत्रण करती हैं और आज्ञाचक्र या पिट्यूटरी ग्लैंड दो का नियंत्रण करता है। वे दो हैं संकल्पात्मिक जो परा विद्या की ओर ले जाती है और विकल्पात्मिक जो अपरा विद्या की ओर ले जाती है। सहस्रार की संरचना इन पचासों वृत्तियों का नियंत्रण करती है- आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार से दसों इन्द्रियों के माध्यम से (५०×२×१०=१०००)। सहस्रार चक्र पर नियंत्रण करने के माध्यम से योगी निर्विकल्प समाधि पा लेता है जहाँ उसे कोई वृत्ति बाँध नहीं सकती। इन्हीं वृत्तियों के क्षेत्र में अच्छे-बुरे संस्कार आते हैं। अत: इस अवस्था तक पहुँचने का अर्थ है सारे संस्कारों का अन्त, ब्रह्मचक्र में इसके पूर्व की यात्रा में मन के द्वारा संचित संवेदन का चुक जाना। इसी को मोक्ष कहते हैं। यही है विराट् सत्ता के साथ लय हो जाना।

जमालपुर, ३०/०५/१९५९

५. कोष

चिति या चैतन्य सत्ता सर्वोच्च विषयीभाव है। अन्य सारे पार्थिव विषयीभाव और विषयभाव उसी एक के मिश्रण हैं। अत: मन भी कोई निरपेक्ष सत्ता नहीं है बल्कि चैतन्य सत्ता का रूपान्तरण मात्र है। मन अपने कर्मों के लिए ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों पर निर्भर रहता है जो उसके प्रतिनिधि हैं। संज्ञावाही एवं आज्ञावाही नाड़ियाँ इन इन्द्रियों की सीधी एजेन्ट हैं। वस्तु से तन्मात्र लेकर मन को पहुँचाने वाली या मानसिक संरचना से प्राप्त शक्ति के द्वारा वस्तु को सक्रिय करने वाली नाड़ियाँ मन का सम्बन्ध बाहरी वस्तुओं से जोड़ती हैं; इस हेतु वे परोक्ष प्रतिनिधि हैं।

जब मानसिक शक्तियों से भरे बहिर्गामी तन्मात्र प्रत्यावर्तित होते हैं तब वस्तु हमारे प्रत्यक्षीकरण, संवेदन और अवधारणा का विषय होती है। जब उनका परावर्तन होता है तब आंशिकरूप से वस्तु ग्रहण क्षेत्र में आती है, जब तन्मात्रों का न प्रत्यावर्तन होता है न परावर्तन या जब प्रत्यावर्तन और परावर्तन दोनों ही अत्यल्प मात्रा में होते हैं तो वस्तु हमारे ग्रहण क्षेत्र में नहीं आती। प्रत्यक्षीकरण की यथार्थता ढेर सारे तत्त्वों पर निर्भर करती है। तन्मात्र उत्सरण करने वाली वस्तुएँ स्वस्थ दशा में हों, इंद्रियों के द्वार स्वस्थ हों और प्रत्यावर्तित तन्मात्र संज्ञावाहिनी और आज्ञावाहिनी नाड़ियाँ एवं चित्त पर्याप्त दृढ़ और सक्रिय हों और अंत में अहंकार उन्हें ग्रहण करने का उत्सुक हो। इन सारे तत्त्वों में से एक में भी दोष या ढीलापन हो तो प्रत्यक्षीकरण गलत होगा और फलत: अवधारणा भी गलत होगी। उदाहरण के लिए ग्लूकोमा के एक मरीज को लें

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [23]

जिसकी चाक्षुषी नाड़ी में जलीय तत्त्व जमा हो जाता है जिससे कि अन्दर प्रकाश की किरणों का अपप्रसार होकर वे छितरा जाती है। परिणाम होता है कि वस्तु से प्रसारित होने वाली श्वेत किरणें भी सप्तवर्णी स्पेक्ट्रम के वर्ण की प्रतीत होती हैं।

आज्ञावाहिनी नाड़ियों की भौतिक क्रियात्मकता की प्रक्रिया मुख्य रूप से 'अहंकार' की कर्मक्षमता पर निर्भर करती है। व्यक्ति को भौतिक क्रियात्मकता या व्यक्तित्व उसकी विकिरण क्षमता पर निर्भर करता है। जिसकी विकिरण क्षमता जितनी विकसित होगी उतना ही प्रभावी, उतना ही द्युतिमय उसका व्यक्तित्व होगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मन का विषय है इन्द्रियों और नाड़ियों के द्वारा काम करना और इस प्रक्रिया में या तो तन्मात्र ग्रहण करना या विकिरण करना। मन का जो अंश इन्द्रियों के क्रियाकलाप से सम्बद्ध है 'काममय कोष' कहा जाता है। यह काममय कोष अणु सत्ता की भौतिक या दैहिक कामनाओं को नियंत्रित करता है।

विराट् मन के क्षेत्र में महत्, अहंकार और चित्त तीनों के विकास की स्थिति को मन का प्रारंभ कहते हैं। अत: चित्त में अहंकार और महत् दोनों की उपस्थिति है। सञ्चर की बहिर्मुखी प्रक्रिया में चित्त तमोगुणी प्रकृति के प्रभाव से क्रमश: घनीभूत होता हुआ स्थूल जड़ का विकास होता है। महत् और अहंकार के समन्वय से चित्त के घनीभूत होने की प्रक्रिया पाँच स्तरों में विभाजित हैं जिन्हें 'कोष' कहते हैं। तमोगुणी प्रकृति के गुण बन्धन से विकसित स्थूलता के आपेक्षिक घनत्व के आधार पर प्रारम्भ से पाँच कोष हैं- हिरण्मय, विज्ञानमय, अतिमानस, मनोमय और काममय कोष। काममय कोष चित्त का स्थूलतम या जड़तम स्तर है जो स्थूलतम धातुओं या तत्त्वों में रूपान्तरित हो जाता है।

मूलभूत पञ्चतत्त्वों के भौतिक विकास के द्वारा विराट् मन की इच्छा व्यक्त होती है। स्मरण रहे ये पञ्च तत्त्व अणु के सम्बन्ध से भौतिक हैं पर विराट के लिए मानसिक हैं। मूलभूत पाञ्चभौतिक तत्त्वों पर विराट् मन के नियंत्रण का अर्थ है भूमा के काममय कोष का आन्तरिक निदर्शन। भूमा मन के बाहर कुछ भी नहीं है। सब कुछ उसके लिए मन के आन्तरिक आयाम में ही है। अत: विराट् मन को इनके क्रियान्वयन के लिए नाड़ी संस्थान या इन्द्रिय संस्थान का प्रयोजन नहीं है। इसलिए इस स्तर पर अणु सत्ता की तरह भौतिक देह संरचना का भी प्रयोजन नहीं है।

काममयकोष से सूक्ष्मतर कोष है मनोमय। स्मरण और मनन इसकी क्षमताएँ हैं। संरचना की दृष्टि से काममय कोष जड़तम है और अणुमन के क्षेत्र में बाह्य पंचभूतों से संपृक्त है। अत: इसे स्थूलमन कहते हैं। इसकी तुलना में मनोमय कोष को सूक्ष्ममन कहते हैं। शेष तीन इन दोनों से कहीं सूक्ष्म होने के कारण तथा स्थूल और सूक्ष्म मन के मौलिक स्तर होने के कारण मिलित रूप से 'कारणमन' कहे जाते हैं। वर्तमान मनोविज्ञान में स्थूल, सूक्ष्म और कारण मन के लिए दिए गए चेतन, अवचेतन और अचेतन नाम ठीक नहीं प्रतीत होते।

अणु सत्ता की दृष्टि से भूमामन का काममय कोष मौलिक पंच महाभूतों के रूप में व्यक्त होता है जिनसे अणुजीवों की भौतिक देह और अन्य भौतिक सत्ताएँ आती हैं। इस प्रकार विराट् मन के काममय कोष में अणु जीवों का अन्नमय कोष सम्मिलित है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि भूमा मन अपने संकल्प प्रवाह में अणु जीवों के लिए वास्तविक सच्चाई प्रस्तुत करता है पर अणुमन का काममय कोष अपनी कल्पना से भौतिक वास्तविकताएँ नहीं निर्माण कर सकता। पहले कहा जा चुका है कि अणुमन के

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [24]

काममय कोष को भी स्थूल मन ही कहते हैं क्योंकि यह भी स्थूल पंचभूतों के क्रिया व्यापार से जुड़ा हुआ है। स्मरण और मनन करने वाले मनोमय को अणुजीव का भी सूक्ष्ममन कहते हैं और इसी तरह भूमा मन की तरह अतिमानस, विज्ञानमय और हिरण्मय कोषों को अणु सत्ता का भी कारणमन कहते हैं। पर अणुसत्ता के कारण मन का भाग यथार्थ में एक सैद्धान्तिक औपचारिकता मात्र है। अणुसत्ता के कारण मन का, भूमा के कारण मन से, अलग कोई अस्तित्व नहीं है। यदि अणुमन के स्थूल और सूक्ष्म मन साधना प्रक्रिया से या अन्य प्रकार से अपने कार्य से विरत हो जाएँ, अणु के कारण मन का भाग अपना स्वतंत्र अस्तित्व बचा नहीं पाएगा। केवल पुराने कर्मों का संस्कार बीज ही बचा रहेगा जो अणुसत्ता की विराट् से अलग पहचान कराएगा। सच्ची साधना की प्रक्रिया से साधक अनुभव करता है कि विश्व में एक ही कारण मन है। कारण मन की दृष्टि से अणु और विराट् में कोई भेद नहीं है। इसी प्रकार अणुमन अपने विषय की सूक्ष्मता द्वारा अपने स्थूल और सूक्ष्ममन को विराट् के स्थूल और सूक्ष्म मन के साथ संयुक्त कर दे सकता है। मानसिक विषय की सूक्ष्मता को पाने का मार्ग यौगिक साधना की प्रक्रिया है।

भूमा सत्ता की समस्त देह का (स्थूल भौतिक संरचना नहीं) भी विभाजन स्थूल, सूक्ष्म और कारण- तीन भागों में किया जा सकता है। भौतिक जगत् विराट् मन के मानस संकल्प में स्थित होने के कारण विराट् सत्ता और अणुसत्ता की तरह कोई जड़ या स्थूल शरीर नहीं हो सकता किन्तु पञ्चभूत की स्थिति विराट् सत्ता के मानस पटल में होने के कारण इसके काममय कोष को प्राय: परमात्मा का स्थूल शरीर कहा जाता है। भूमा सत्ता के बचे हुए कोषों का हिस्सा परमात्मा की सूक्ष्म देह है तथा परमात्मा के

अहंकार और महत्त्व को उसका कारण शरीर कहते हैं।

कारण शरीर की धारणा एक दार्शनिक प्रस्तावना है। दर्शन के अनुसार अपनी अन्तर्हित सात्त्विकी प्रकृति के द्वारा प्रभावित होने के क्षण से ही सृष्टि के विकास का बीज अभिव्यक्त होकर उसकी देह और कोष अस्तित्व में आ गए।

इसी प्रकार अणु सत्ता का अन्नमय कोष उसकी स्थूल देह है और काममय, मनोमय, अतिमानस, विज्ञानमय और हिरण्मय कोष उसकी सूक्ष्म देह है। यद्यपि हिरण्मयकोष से ऊपर पुरुषोत्तम में लय होकर एक रूप होने के बीच अणु की देह सत्ता है पर वह कारण शरीर नहीं है। यह अन्तिम स्तर होने के कारण 'सामान्य देह' कही जा सकती है।

स्वभावत: यदि विषयी मन को विषय की प्रयोजनीयता है तो उसको एक साक्षीसत्ता की भी आवश्यकता है। बल्कि कहें तो यह साक्षी सत्ता ही मन का चरम सत्य है। दर्शन शास्त्रों में विषयीभूत मन की स्वभावगत भिन्नताओं के आधार पर साक्षी चैतन्य के भी नामकरण किए हैं। पर इसका अर्थ यह हरगिज नहीं है कि एक पुरुषोत्तम ही मन के भिन्न स्तरों पर साक्षी चैतन्य के रूप में काम नहीं कर रहा है। वही एक सत्ता, मन की अवस्थाओं के परिवर्तन में क्रियागत भेद के पीछे साक्षीसत्ता के रूप में अवस्थित रहती है। इस प्रकार स्तर भेद से, उस एक सत्ता की भिन्न-भिन्न उपाधियाँ दी गई हैं। भूमा के कारण मन, सूक्ष्म मन और स्थूल भूमा मन के साक्षी पुरुषोत्तम सत्ता को क्रमश: विराट्, वैश्वानर और हिरण्यगर्भ या ईश्वर कहते हैं। इसी प्रकार अणु मन के कारण, सूक्ष्म और स्थूल स्तर के साक्षी पुरुषोत्तम सत्ता को क्रमश: विश्व, तेजस् और प्राज्ञ उपाधियाँ दी हैं।

भूमा सत्ता का विस्तार है भिन्न लोकों में जिनमें सारे कोष

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [25]

और अणु मन सम्मिलित हैं। लोक केवल भूमा के क्षेत्र में कहे जाते हैं, अणु सत्ता में नहीं। भूमा का काममय कोष, जहाँ भौतिक संरचना का रूप ग्रहण कर चुकी है 'भू लोक' है। जहाँ भौतिक संरचना का मात्र रूप ग्रहण करना प्रारंभ हुआ है पर अभी तक पूरा नहीं हुआ है 'भुव' लोंक या स्थूल मन का क्षेत्र कहते हैं। भूमा का मनोमय, अतिमानस, विज्ञानमय और हिरण्मय कोष के क्रमशः नाम 'स्वर्लोक' या सूक्ष्म मन, महर्लोक या अतिमानस, जन:लोक या विज्ञानमय और तप:लोक है। इससे ऊपर दार्शनिक दृष्टि से औपचारिक रूप से जिस कारण देह की अवधारणा की स्थिति मानी गई है इसे ही सत्य लोक कहते हैं।

नीचे उपर्युक्त कोष, मन के भिन्न स्तर, साक्षी चैतन्य और लोकों की तालिका दी गई है।

जमालपुर, ३१/०५/१९५९

लोक-कोष (त्रिभुवन) की तालिका

<table>
<tr><th>भूमामन</th><th>कोष</th><th>मन</th><th>साक्षीसत्ता</th><th>शरीर</th><th>लोक</th></tr>
<tr><td>महत्तत्व
अहं तत्त्व</td><td>—</td><td>—</td><td>पुरुषोत्तम</td><td>कारण</td><td>सत्य</td></tr>
<tr><td rowspan="3">चित्त</td><td>हिरण्मय
विज्ञानमय
अतिमानस</td><td>कारण</td><td>विराट या
वैश्वानर</td><td rowspan="2">सूक्ष्म</td><td rowspan="2">तपः
जनः
मनः
स्वः</td></tr>
<tr><td>मनोमय</td><td>सूक्ष्म</td><td>हिरण्यगर्भ</td></tr>
<tr><td>काममय</td><td>स्थूल</td><td>ईश्वर</td><td>स्थूल</td><td>भुवः/भू</td></tr>
<tr><td>—</td><td>अन्नमय</td><td>—</td><td>—</td><td>स्थूल</td><td></td></tr>
<tr><td rowspan="5">चित्त</td><td>काममय</td><td>स्थूल</td><td>प्राज्ञ</td><td rowspan="5">सूक्ष्म</td><td rowspan="5"></td></tr>
<tr><td>मनोमय</td><td>सूक्ष्म</td><td>तैजस्</td></tr>
<tr><td>अतिमानस</td><td rowspan="3">कारण</td><td rowspan="3">विश्व</td></tr>
<tr><td>विज्ञानमय</td></tr>
<tr><td>हिरण्मय</td></tr>
<tr><td>अहं तत्त्व
महत्तत्व</td><td>शिखर पर
हिरण्मय कोष</td><td>—</td><td>पुरुषोत्तम</td><td>सामान्य
देह</td><td></td></tr>
</table>

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [26]

६. आत्मा, परमात्मा और साधना

शक्ति की चिरन्तन प्रवाहमयी नित्य धारा में सत्व, रज: और तम: गुणों के अन्त:संघर्ष और संहति के कारण शक्ति त्रिकोण के एक शीर्ष बिन्दु से परिणामभूत बल स्फुरित हो पड़ता है। पुरुषोत्तम या भूमा चैतन्य के नाभिकेन्द्र से सञ्चर की प्रक्रिया या एकत्व से अनेकत्व या सूक्ष्म से स्थूल की ओर विकास की नियमित धारा प्रवाहित होती है। घनत्व की अभिवृद्धि से क्रमश: महत्तत्त्व, अहंकार एवं चित्त रूपायित होते हैं और तीनों की समष्टि की प्रस्तुति से मन का उद्भव हो उठता है। मूल सत्ता तो गुणातीत, अखण्ड चैतन्य है। चित्त के अधिकतर घनीभूत होने के क्रम में वही चित्त व्योम, वायु, तेजस्, द्रव या अप् एवं क्षिति इन पंच भूतों में रूपान्तरित हो जाता है।

नाभिकेन्द्र पुरुषोत्तम से स्थूल जड़ विकास तक पुरुषदेह में कोई परिवर्तन नहीं होता। त्रिगुणात्मिका प्रकृति की तीनों शक्तियों में क्रिया-प्रतिक्रिया के कारण बाह्य रूपावरण में परिवर्तन आने से लगता है कि उस व्यापक चैतन्य सत्ता की प्रभविष्णुता में ह्रास हुआ है। विकास का यह संचर स्तर सृष्टि के निर्जीव स्तर के विकास का पक्ष है और इसमें भूमा मन अथवा विराट् के भिन्न स्तरों का निदर्शन हुआ है। जड़तम क्षिति विकास के बाद सजीव जगत् में पदार्थ के विखण्डन और संहति के फलस्वरूप मन का विकास हुआ है। यहीं से प्रतिसंचर की प्रक्रिया प्रारंभ होती है। यह प्रतिगामी धारा है जिसमें अणुमन क्रमश: व्याप्तिलाभ करता है; मन का आयाम और धातुगत विस्तार भूमा चैतन्य की निरंतर

वर्धमान प्रतिछाया के कारण पदार्थ या पंचभूत निरंतर क्षीण होता हुआ अंत में अणुमन मानसिक मुक्ति पाता है, जिसे दार्शनिक भाषा में सविकल्प समाधि कहते हैं।

प्रतिसंचर में अणुमन अनेक स्तरों में स्थित है। इस प्रकार संचर या निर्जीव सृष्टि भूमा मन का स्तर है प्रतिसंचर अणु मनों का स्तर है। विराट् जगत् का अणु-परमाणु पुरुषोत्तम के सिवा कुछ नहीं है। वही सर्वत्र छाया हुआ है। वही सर्वत्र व्याप्त है, व्यापक है और साक्षीसत्ता है। जैसे अपने विकिरण से सूर्य सम्पूर्ण सौरमंडल में व्याप्त है, उसी प्रकार पुरुषोत्तम अपनी चितिशक्ति के द्वारा अपने संचर-प्रतिसंचर विस्तार में व्याप्त है। इस प्रकार भूमा मन में साक्षीसत्ता और विकिरण रूप धातु द्रव्य दोनों ही पुरुषोत्तम ही है। विकास के दूसरे स्तर पर अर्थात् अणुमन के विकास के भिन्न स्तरों में पुरुषोत्तम साक्षीसत्ता है। अन्य सारी वस्तुएँ चित्त के भिन्न विकास हैं। संचर और प्रतिसंचर दोनों स्तरों में पुरुषोत्तम चैतन्य सत्ता है। वही विराट् और अणु का साक्षित्व करता है। इसीलिए पुरुषोत्तम को समन्वित चैतन्य भी कहते हैं। साक्षीसत्ता के रूप में पुरुषोत्तम अपनी अविद्या माया के द्वारा स्वयं अपने मानस विकास से जोड़ लेता है और चितिशक्ति के रूप में विषयों में प्रतिभात होता है। यह प्रतिबिंबन किसी दर्पण के प्रतिबिंबन की तरह न होकर सूर्य की किरणों की तरह अपने प्रतिबिंबन से सम्पर्क होने जैसा है। पुरुषोत्तम का भूमा मन के साथ सम्पर्क जिसके द्वारा वह साक्षीसत्ता के रूप में क्रियाशील होता है, प्रीतयोग कहा जाता है। पुरुषोत्तम का अणुमनों के साथ पृथक्-पृथक् व्यक्तिश: सम्पर्क जिसके द्वारा वह साक्षीसत्ता के रूप में सम्पृक्त होता है, ओतयोग कहा जाता है। अणु मनों की संहति के साथ पुरुषोत्तम के सम्पर्क को भी प्रोतयोग कहते हैं। इस प्रकार संचर में पुरुषोत्तम केवल प्रोतयोग से

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [27]

संबंद्ध है। किन्तु प्रतिसंचर में वह ओतयोग और प्रोतयोग दोनों रूपों में सम्बद्ध है।

पहले यह अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रकृति का परिणामभूत बल शक्ति त्रिकोण के एक शिखर बिन्दु से स्फूर्त्त होकर सृष्टि का आदिचरण प्रारंभ होता है। इस शक्ति त्रिकोण का मध्य बिन्दु या नाभि केन्द्र पुरुषोत्तम है। ऐसे शक्ति त्रिकोणों के मध्य बिन्दुओं का एकत्र संपात होता है, अत: पुरुषोत्तम एक ही सत्ता है। दार्शनिकों ने परमात्मा की व्याख्या में पुरुषोत्तम, उसका संचर में प्रोतयोग एवं प्रतिसंचर में ओत और प्रोतयोग के समेकित स्वरूप को लिया है। परमात्मा का तात्पर्य है समस्त सृष्टियों का समष्टि चैतन्य। यही नाभि केन्द्र की चैतन्य सत्ता है, यही भूमा और अणु की भी चैतन्य सत्ता है।

परमात्मा में भूमा और अणु दोनों ही नहीं गिने जाते। परमात्मा, भूमा और अणु के मिलित स्वरूप का नाम है सगुण ब्रह्म अर्थात् व्यक्त प्रकृति के साथ ब्रह्म। सगुण ब्रह्म में पुरुषोत्तम ही है चैतन्य सत्ता का प्राणकेन्द्र। इसी हेतु उसे 'कूटस्थ' भी कहते हैं। अणु सत्ताओं के नाभिचैतन्य या आत्मा को भी 'कूटस्थ चैतन्य' कहते हैं। इसका नियंत्रक बिन्दु केन्द्र है 'भ्रुवोर्मध्ये' दोनों भौंहो के बीच जहाँ आज्ञाचक्र का कर्मकेन्द्र अवस्थित है।

संचर नाभिकेन्द्र से दूरगामी गतिधारा है। नाभिकेन्द्र है ब्रह्मचक्र का केन्द्र बिन्दु। ब्रह्मचक्र अर्थात् सृष्टि का विराट् चक्र। इसप्रकार संचर धारा केन्द्रापगा या केन्द्रापसारी धारा है। दर्शन शास्त्रों में इस बहिर्मुखी गति को अविद्या, माया या अज्ञान का भ्रमजाल कहा है। अविद्या माया के प्रभाव से सृष्टि सूक्ष्म से स्थूल की ओर, चैतन्य से जड़ की ओर बढ़ती हुई ऐसे बिन्दु पर संचर के चरम स्थूल, क्षिति विकास तक पहुँच जाती है। यह वह अवस्था है जहाँ चित्त

के रूपान्तरित स्वरूप में अधिकतम रासायनिक संहति रहती है साथ ही अन्तर आणविक एवं परमाणविक 'आकाश' या अवकाश में और ह्रास की संभावना नहीं रह जाती।

परिस्थिति के अनुकूल, इस अवस्था में, संरचना में या तो प्राण और मन का स्फुरण होता है या जड़ स्फोट होकर अणु अणु बिखर जाता है। मन के विकास से प्रतिसञ्चर की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। प्रतिसंचर का अर्थ है अणु सत्ता का जड़ात्मकता से सूक्ष्म विकास चक्र का प्रारंभ। यह प्रगति विद्यामाया या ज्ञान की माया के प्रभाव से क्रियान्वित होती है। इस गति की दिशा पुरुषोत्तम की ओर है जो सृष्टि का केन्द्र है। इस गति का प्रत्येक पदक्षेप केन्द्र के निकटतर पहुँचाता है। यही जीव जगत् का अन्तिम गन्तव्य है, प्राप्तव्य है, ज्ञातव्य है। यही है समस्त सृष्टि का चरम परिणाम। यह केन्द्रानुगा शक्ति पुरुषोत्तम के विकासमान आकर्षण से संपृक्त है। यह आकर्षण ही उसका वरदान है जिसके द्वारा वह अपनी समस्त संतान को अपनी दिव्य ज्योति के आलोक में मार्गदर्शन करता है। पुरुषोत्तम की प्रतिछाया का संपर्क अणुमन को निरन्तर पुरुषोत्तम के समीप लिए चलता है। अणुमन इस सामीप्य के अनुपात में व्यापक होता जाता है और निरन्तर प्रगति पथ पर बढ़ता हुआ अणु मन, विराट् मन का सारूप्य या समानता पा लेता है। अणुमन भूमामन के समान होकर उसमें मिलकर सायुज्य लाभ कर लेता है। प्रतिसञ्चर धारा में पुरुषोत्तम की नाभिकीय चैतन्य सत्ता की केन्द्रानुगा आकर्षिणी शक्ति से यह प्रक्रिया पूरी होती है।

पुरुषोत्तम के आकर्षण की इस गति को अणुमन अपने प्रयास से, उस के आशीर्वाद, वरदान की अनुभूति को अधिकाधिक प्रगाढ़ करता हुआ, उसके साथ मानसाध्यात्मिक समान्तरता बनाए

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [28]

रखकर तीव्रतर कर सकता है। उस परात्पर आराध्य की ओर आगे बढ़ने के लिए उस गति को तीव्रतर करने का प्रयास ही आध्यात्मिक साधना है। केवल मनुष्य को ही यह साधना करने योग्य अहंकार प्राप्त है। आध्यात्मिक साधना प्रतिसञ्चर की प्राकृत धारा के संवेग को त्वरान्वित कर परम प्रभु के विछोह की घड़ी को यथासाध्य पाटने के प्रयास के अतिरिक्त कुछ नहीं है। अत: साधना की कसौटी है उसकी ओर निरन्तर आगे बढ़ते रहने की अनुभूति। जीवन में इस गति के प्रत्येक पल का विलम्ब दारुण पीड़ा का कारण है। उस विराट् की अनुभूति जिससे प्राप्त हो वही आध्यात्मिक साधना है और उस नाम से जो कुछ क्रियाएँ की जाती हैं वे सारे औपचारिक अनुष्ठान ढकोसले हैं।

प्रतिसञ्चरधारा में देह- मानसिक संरचना की इकाई में अणुमन के पटल पर पुरुषोत्तम की ओतयोग संपृक्त प्रतिछाया ही चैतन्य सत्ता का अभिप्रकाश है। इसी प्रतिसञ्चर की प्रक्रिया रूपी अपनी विद्यामाया से अपनी समस्त संतान को वह सदावत्सल परमपुरुष निरन्तर ऊँचे से ऊँचा लिए चल रहा है। पहले कहा जा चुका है कि भौतिक और मानसिक संघर्ष एवं विराट् के आकर्षण से मानसिक आयाम का विस्तार होकर अन्त में अणुमन अपनी आध्यात्मिक साधना के द्वारा अपनी चरम मुक्ति पा लेता है। प्रतिसंचर की प्रक्रिया में प्रगति के भिन्न-भिन्न स्तरों पर विविध अणुमन परमपुरुष की निकटता के अनुपात में उसका प्यार, उसकी कृपा या आशीष का आनन्द उपयोग करता है। ब्रह्मार्पण और ब्रह्मोपलब्धि का परम पुनीत दिन परम आनन्द का उन्मुक्त सागर लेकर आता है और प्रकृति के सारे दुर्विनीत बन्धन बहा ले जाता है।

ऐसे व्यक्ति मानवता के लिए आदर्श बन जाते हैं और

मानवता उनके चरणों में श्रद्धा के फूल चढ़ाती है। केवल ऐसे उन्नत व्यक्तियों को ही 'महापुरुष' कहा जाना चाहिए। महापुरुष का अर्थ है समुन्नत मानस का अधिकारी प्राणी। उनके पवित्र चरणों पर कोई श्रद्धा और उन्नत आकांक्षाओं के फूल अर्पण कर सकता है पर उनको किसी सांसारिक फूल और उपहारों का कोई आकर्षण छू भी नहीं पाता।

महापुरुष के आविर्भाव को भ्रमवश अवतार कह देते हैं। अवतार अवधारणा ही एक तर्कहीन अवधारणा है। सम्पूर्ण सृष्टि उससे ही उद्भूत है, उसके द्वारा ही विकसित है, इसलिए सारा विश्व उसका अवतार है। अवतार का अर्थ है 'व्युत्पत्ति' अत: प्रतिसञ्चर की प्रक्रिया में अत्युन्नत व्यक्ति विशेष के लिए इस शब्द का प्रयोग करना केवल निरर्थक ही नहीं वरन् भ्रममूलक भी है। भला किस युक्ति से सोचा जा सकता है कि परम पुरुष, भूमा सत्ता स्वयं सीधे किसी अणुदेह या खासकर मनुष्य देह में रूपान्तरित हो जाती है। उस विराट् की सृष्टि में मनुष्य एक योनि या वर्ग के रूप में सबसे विकसित अणु सत्ता का निदर्शन है और एक समुन्नत महापुरुष के विकास का प्रत्येक स्तर संचर और प्रतिसंचर के राजमार्ग से गुजरा है, तिल तिल आगे बढ़ा है यह क्रमिक विकास है, आकस्मिक घटना या अचानक आसमान से उतरना नहीं है।

युक्तिसंगत तो यह कहना होगा कि प्रत्येक अणुचैतन्य परमात्मा का अवतार है अथवा यह कथन कि 'परम पिता का प्रतिनिध' संचर के पथ पर चलकर विकास की मंजिलें तय करता हुआ प्रतिसंचर के स्तर के बाद स्तर पार करता हुआ मानसिक व्याप्ति पाता हुआ उन्नत अवस्था तक पहुँचा है। अवतारवाद कहता है कि अवतारी सत्ता, सर्वशक्तिमान प्रभु का संसार में

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [29]

सीधा अवतरण है और उसकी शेष सृष्टि के मूल स्रोत की कोई व्याख्या नहीं देता।

अवतार शब्द का अर्थ है उतरना, व्युत्पत्ति या विकृति। प्रचलित मतवादों के अनुसार पुरुषोत्तम का कैसा भी अवतरण पुरुषोत्तम की बराबरी की मर्यादा नहीं पा सकता। किसी सृष्ट सत्ता का मानसिक स्तर भूमा सत्ता के बराबर समरूप हो जाता है तब अणुमानस स्वत: भूमामन में लय होकर एक हो जाता है- द्वैतभाव का अवकाश ही नहीं रहता। तब समूचे ब्रह्मचक्र में पुरुषोत्तम के समान मर्यादा वाली अलग किसी दूसरी सत्ता के अस्तित्व की कल्पना भी कैसे की जा सकती है? इस प्रकार अवतारवाद की पूरी अवधारणा ही, बौद्धिक विश्लेषण के सम्मुख अविश्वसनीय और अविवेकपूर्ण प्रतीत होती है। अवतारवाद के अन्धविश्वास के पीछे स्वार्थी लोगों के द्वारा फैलाई हुई एक और सामाजिक मान्यता है। तर्क और जिज्ञासा मनुष्य के नैसर्गिक वृत्ति है। कुछ वैसी परिस्थितियाँ आईं या बौद्धिक अभ्युदय होने के कारण समाज में फैली तर्कहीन मान्यताओं या अन्धविश्वासों की जबर्दस्त प्रतिक्रिया हुई। ये अन्धविश्वास परमुण्डे फलाहार करने वाले, दूसरों की खून पसीने की कमाई पर मौज करने वाले चालाक, धूर्त, परजीवी वर्ग के द्वारा सामाजिक शोषण का मजबूत आधार तैयार करते थे। अन्धविश्वासपूर्ण मान्यताओं के द्वारा अपना प्रभुत्व और आधिपत्य बनाए रखने के लिए, इन परजीवियों ने इस प्रतिक्रिया और बौद्धिक विवेकशीलता के अभ्युदय को दबाने के लिए समाज में एक भावुक अपील फैलाई। समाज में अवतारवाद की तथाकथित दैवी शक्ति की छायातले विवेकपूर्ण या पाखण्डभरे फरमान जारी किये। ईश्वर के नाम पर भ्रष्टाचार का बोलबाला था और ऐसे फरमान के विरोध में सिर उठाने वालों, ऐसे उपदेशों का विरोध

करने वालों को उल्टे प्रतिक्रियावादी, नास्तिक कह कर जबर्दस्त तरीके से दबाने की कोशिश की गई। उनकी नीति थी बदनाम करो और मिटा दो। अपना स्वार्थीभाव पूरा करने के लिए बड़े-बड़े दार्शनिकों के जिन ग्रन्थों को समाज में चिरकाल से धार्मिक शास्त्र की जैसी मान्यता प्राप्त थी उनके अनमोल कथनों को भ्रान्तिपूर्ण व्याख्याओं के द्वारा और क्षेपक डालकर प्रदूषित करने में उन्हें कोई हिचक नहीं हुई।

तारक ब्रह्म : संचर और प्रतिसञ्चर के संघात ब्रह्मचक्र में गतिप्रवाह में कोई एकरूपता नहीं है। सात्त्विक शक्ति का वेग राजसी शक्ति से और राजसी का तमोगुणी शक्ति से कहीं अधिक है। इस तरह सञ्चर के प्रारम्भ में वेग अधिक तीव्र रहता है। इसी प्रकार सात्त्विक शक्ति के प्रभाव से सामान्य देह अर्थात् हिरण्मयकोश से ऊर्ध्वतर ऊँचाई पा लेने पर जब अणुमन केवल सात्विक शक्ति का अनुभव करता है, पुन: वह तीव्र वेग आता है। इस स्तर पर अणुमन का वेग विश्वब्रह्माण्ड के सामान्य वेग से तुलनात्मक रूप से बहुत अधिक प्रखर होता है और यदि अणुमन आध्यात्मिक साधना के द्वारा भूमा चैतन्य के नाभिकेन्द्र पुरुषोत्तम की ओर बढ़ने का प्रयास कर रहा हो तो यह वेग और भी तीव्रतर हो उठता है।

सृष्टि के आदिकाल से मनुष्य पुरुषोत्तम की आनन्दमयी गोद में आसीन होने के लिए आतुर है। वेग में एकरूपता का अभाव अणु मन की गति को अंडाकृत शक्ति में रूपान्तरित कर देता है और वह गति वृत्ताकार से अंडाकार हो जाती है। जीवन के चरम लक्ष्य के रूप में जो पुरुषोत्तम में लीन होने के लिए उत्कंठित हैं वे उसमें लय हो पाते हैं पर जिनका लक्ष्य 'मोक्ष' होता है, जहाँ साधना है- उस निर्गुण ब्रह्म में पूर्ण आत्म समर्पण, वे इस

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [30]

ब्रह्मचक्र से एक स्पर्श रेखात्मक गति से (Tangential touch) बाहर निकल जाते हैं। इस रेखा का स्पर्शबिन्दु ही तारक ब्रह्म है जो स्पर्श रेखा और चक्र दोनों में सामान्य रूप से स्थित है। यह सगुण और निर्गुण का मिलन बिन्दु है।

तारक ब्रह्म एक तांत्रिक अवधारणा है। तंत्र में सम्पूर्ण सृष्टि को संभूति कहा गया है। तारक ब्रह्म जब अपनी इच्छा से पञ्चभूत की सहायता लेता है तब उसकी भौतिक सत्ता सगुण ब्रह्म में परिगणित होती है अन्यथा वह निर्गुण ब्रह्म है। तंत्र के अनुसार, जब तारक ब्रह्म पंचमहाभूतों की सहायता लेता है तो इसे उसकी महासंभूति कहते हैं।

तंत्र साधना अथवा आनन्दमार्ग की साधना में जिनका लक्ष्य पुरुषोत्तम होता है वह सगुण ब्रह्म में लीन हो जाता है और जिसका लक्ष्य निर्गुण ब्रह्म होता है वह निर्गुणा सत्ता में लय होता है। केवल तंत्र साधना में सगुण और निर्गुण ब्रह्म की साधना से अलग तारक ब्रह्म की विशेषता प्रतिपादित की गई है। सैद्धान्तिक रूप से सगुण ब्रह्म के अनन्त संस्कार हैं अत: सगुण ब्रह्म अनन्तकाल तक अपने अर्जित संस्कारों का फल भोग करता रहेगा। निर्गुण ब्रह्म विषयरहित, कर्मरहित और निष्पत्तिरहित सत्ता है पर तारकब्रह्म दोनों का मध्यमणि बिन्दु है और दोनों दायित्वों का निष्पादन करता है। वह अपनी प्रिय संतति का मार्गदर्शन करता है, प्यार भरी गोद का आश्रय देता है और अपनी असीम करुणा की आनन्दमयी छाया में पोषित करता है। उसकी संतान भी जानती है कि वह उन्हें प्यार किए बिना रह नहीं सकता। इसीलिए वह कहती है– 'हे परम पिता, हे स्नेहमयी माता, हे हमारे सर्वस्व, हम तुम्हें सदा स्मरण करते हैं, तुम्हारी भक्ति करते हैं। हे हमारे अस्तित्व के चरम साक्षी, हम तुम्हें अपनी श्रद्धा के फूल चढ़ाते हैं। इस असार संसार

सागर में तुम्हीं हमारे आश्रय पोत हो, तुम्हीं त्राता हो। हमारा सब कुछ तुम्हें ही समर्पित है।'' यह सम्पूर्ण समर्पण ही सारी आध्यात्मिक साधना का सार तत्त्व है। यही उसके चरणतल तक पहुँचा सकता है जहाँ से पुनरागति नहीं, पदस्खलन नहीं; अधोगति तो अकल्प्य है। वही धन्य है जिसने यह पूर्ण समर्पण भाव पा लिया है; समुद्रतल नापने के लिए जाने वाले नमक के छोटे ढेले की तरह जो करुणा सागर की आनन्दमय तरंग के हिल्लोल और आकर्षण से उस अज्ञात अतल तल में एक, लीन हो गया। (तारक ब्रह्म कोई दार्शनिक तत्त्व नहीं है। यह तो भक्ति भाव की आनन्दमयी निष्पत्ति है।)

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [31]

७. जीवन, मृत्यु और संस्कार

सत्, चित् और आनन्द इन तीन के योग से सच्चिदानन्द शब्द बना है। इनको प्राय: अस्तित्व, ज्ञान और आनन्द कहा जाता है। इस रूप में यह न केवल सस्ती व्याख्या है बल्कि गलत भी है।

असल में सत् कहते हैं अपरिणामी को, जिसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। वह सर्वनिरपेक्ष चरम सत्ता ही सत् है। अस्तित्व तो देश, काल, पात्र सापेक्ष भाव बोधक शब्द है। सत् है अपरिवर्त्तनीय। चरम सत्ता में रूपान्तरण तो प्रतीत सा होता है पर यथार्थ में उसमें तत्त्वगत कोई परिवर्तन नहीं होता। अत: सत् का अर्थ केवल वह परम, निरपेक्ष सत्ता है जिसमें कोई परिवर्तन नहीं होता।

चित् का अर्थ ज्ञान नहीं है। इसका अर्थ है चैतन्य सत्ता। इस चैतन्य सत्ता के द्वारा ही विश्व ब्रह्माण्ड की सृष्टि होती है। यही चैतन्य अणुमन के माध्यम से सृष्ट जगत् का बोध करता है, यही जगत् को क्रियान्वित करता है। ब्रह्म की इस चिति शक्ति के द्वारा ही विषयीभाव प्रकट होता है।

ठीक है, आनन्द अपने अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है पर इसका तात्पर्य दिव्य आनन्द है। वह आनन्द जो विषयी भावगत है, विषय रूपात्मक नहीं।

पिछले अध्याय में हमने देखा है कि सगुण ब्रह्म अपने में पूरे विराट् विश्व को समाहित किए हैं। अणु सत्ता, भूमा, पुरुषोत्तम और परमात्मा- सब सगुण ब्रह्म में समाये हैं। सगुण ब्रह्म का विराट् जगत् भूमा का मानस संकल्पगत है। अणु मन के द्वारा जगत् के भिन्न विषयों के प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया का विश्लेषण

करें। अणुसत्ता की दस इन्द्रियाँ हैं – पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ। ज्ञानेन्द्रिय वस्तुओं से तन्मात्र ग्रहण कर वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण कराती हैं। अत: ये इन्द्रियाँ वस्तु को जानने वाली हैं। दूसरे स्तर पर चित्त संज्ञावाही नाड़ियों के द्वारा तन्मात्र ग्रहण कर प्रत्यक्षीकृत वस्तु का रूप ग्रहण करता है। अहंकार इस प्रत्यक्षीकरण के विषयी के रूप में अपने को अनुभव करता है; पर यह विषयीभाव भी तो अपने अस्तित्व की अनुभूति पर निर्भर करता है क्योंकि अपने अस्तित्व के बोध के बिना विषयबोध हो ही नहीं सकता। पहले 'मैं' हूँ बोध, तब वस्तु या विषय बोध होगा। अस्तित्व का यह बोध ही महत्तत्व है। इन्द्रियों के द्वारा संप्राप्त तन्मात्रों के प्रत्यक्षीकरण का अधिकारी है महत्तत्त्व और अहंकार की जोड़ी। इसप्रकार चित्त, अहंकार और महत् का समन्वित रूप मन इन्द्रियों का ज्ञाता है। इसीलिए मन को इन्द्रियों का स्वामी कहते हैं। पर क्या वास्तव में मन ज्ञाता है? यदि नहीं तो वास्तविक ज्ञाता कौन है? 'मैं हूँ', 'मैं करता हूँ' और 'कार्यरूप मैं' ये तो क्रियात्मक रूप हैं। एक दूसरी सत्ता है जो इन क्रियाओं का स्वामी है; जो इनके क्रियान्वयन को प्रमाणित करती है। वह इनका साक्षी है। यह महत्तत्त्व का भी साक्षी है। हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं यह साक्षी सत्ता आत्मा या अणु चैतन्य है- मन का ज्ञाता पुरुष। अत: चरम ज्ञातृत्व आत्मा में है मन में नहीं। आत्मा अथवा अणु मन पटल पर चैतन्य की छाया न केवल सक्रिय तत्त्व है, बल्कि ज्ञातृत्व और साक्षित्व की सत्ता भी उसी में है। आत्मा जानती है क्योंकि वह मन की क्रियाओं का सक्रिय भागीदार है।

पाँच कर्मेन्द्रियों के विषय हैं तन्मात्रों को सक्रिय करना। ये इन्द्रियाँ आज्ञावाही नाड़ियों के द्वारा उत्सर्जित बहिर्गामी तन्मात्रों की सहायता से अपनी संभावनाओं को या सामर्थ्य को क्रिया रूप देती

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [32]

है। ये कर्मेन्द्रियाँ अपनी बारी में मन से तन्मात्र ग्रहण करती हैं। अत: स्पष्ट है कि कर्त्तृत्व भी मन में है, कर्मेन्द्रियों में नहीं। यथार्थ कर्तृत्व आत्मा की अनुपस्थिति में प्रस्थापित नहीं किया जा सकता। यह आत्मा ही देखती है कि मन तन्मात्रों के रूप में आन्तरिक संस्कार या संचित संवेगों को क्रियान्वित करता है। आत्मा स्वयं सक्रिय नहीं है पर उसके कारण उसकी सर्वव्यापकता के कारण मन क्रियाशील हो पाता है। इस स्तर तक ज्ञातृत्व और कृतित्व का चरम आधार आत्मा में ही है। आत्मा स्वयं काम नहीं करती पर उसका अस्तित्व ज्ञातृत्व और कृतितत्त्व का चरण कारण है।

कोई भी विषय पहले इन्द्रिय में स्थान पाता है। बाद के अन्तर्वीक्षण में यह मन के अन्दर इन्द्रिय के अस्तित्व पर आधारित प्रतीत होता है और अन्त में वास्तविक ज्ञातृत्व या कर्तृत्व आत्मा में प्रतिष्ठित होता है। मन का चरम अस्तित्व स्वयं आत्मा में अवस्थित है। इस प्रकार चरम ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और अस्तित्व आत्मा में है और इन तीनों का मिलित नाम साक्षी सत्ता है। यह और भी स्पष्ट होगा यदि हम यह जानें कि मन स्वयं त्रिगुणात्मिका शक्तियों के सतत संघर्ष का परिणाम है। ये सम्बन्धित संघर्षरत मिलित शक्तियाँ ही मन के संगठन के मुख्य कारक तत्त्व है। क्योंकि मन सतत संघर्षमय है और सतत परिवर्तनशील सापेक्ष क्रियात्मक सत्ता है, अत: देश, काल और भौतिक, मानसिक पात्रगत विविधताओं में मन के चरम निरपेक्ष साक्षी सत्ता की नितान्त प्रयोजनीयता रह जाती है। यही साक्षी सत्ता आत्मा है और मन तो केवल सदा परिवर्तनशील क्रियात्मक रूपान्तरण का परिणाम है।

ब्रह्मचक्र के प्रत्येक स्तर पर यह साक्षी सत्ता अवश्य अवस्थित होगी। संचर में भूमामन का साक्षी है- पुरुषोत्तम। अत: विराट् विश्व की आत्मा स्वयं पुरुषोत्तम है। प्रतिसंचर में पुरुषोत्तम अपने ओतयोग के द्वारा अणुसत्ताओं पर अपने प्रतिबिम्बन से संपृक्त रहता है और प्रत्येक अणुमानस के पटल पर यह प्रतिबिम्बन उस अणुमन की साक्षीसत्ता जीवात्मा है। आत्मा कभी भी सक्रिय भागीदार नहीं है।

मन एक सतत परिवर्तनशील क्रियात्मक संरचना है। अत: इसमें अवश्य संवेग होगा। मन कहाँ से यह संवेग प्राप्त करता है? प्रत्येक स्तर पूर्ववर्ती स्तरों से निष्पन्न होता है। अणु मन के विकास के बाद का स्तर भी पिछले स्तरों का परिणाम है। पूर्ववर्ती स्तरों की क्रियाओं का परिणाम संस्कार है। यही अणुमन को संवेग प्रस्तुत करता है। अणुमन का प्रारंभिक विकास संचर में कुछ शक्तियों की आन्तरिक प्रतिक्रियाओं के कारण हुआ है। प्रत्येक शक्ति के संवेग का अन्तिम कारण भूमामन है जो संचर और प्रतिसंचर का सम्पूर्ण क्रिया विधान है। अत: यह भूमामन ही है जो अणु सत्ताओं के माध्यम से क्रियाशील होता है और अणुमन का संवेग प्रस्तुत करता है। विराट् का आकर्षण इस संवेग को त्वरान्वित करता है। प्राकृत शक्ति की अभिव्यक्ति के मूल प्राणकेन्द्र में सृष्टि का संवेग प्रच्छन्न, सुप्त रहता है।

अणुमानसों के माध्यमों एवं विराट् जगत् के निर्जीव भाग के माध्यम से संजात संवेग ही सृष्टि का संवेग है। यही उस एक की अनेक रूपात्मक लीला है। अणुजगत् की रचना के पूर्व केवल विराट् जगत् था और सारी प्रायोजित गतिविधियाँ भूमामन में स्थित थीं और सारी विविधताएँ वहीं उसी 'एक' में समाहित थीं। सारा विशाल, वृहद् ब्रह्मांड उसी में अवस्थित है। अत: प्रकृति के प्रथम अभिव्यंजन को स्थूलतम पदार्थ जगत् के विस्तार तक के सृष्टि के निर्जीव पक्ष के जीवन, मृत्यु और संस्कार का प्रश्न ही

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [33]

नहीं उठता।

प्रतिसंचर यात्रा में स्थूल मन को विराट् मन से संवेग प्राप्त होता है। प्रथम स्तर में अणुसत्ता में न तो अहंकार और न ही महत्तत्त्व का विकास होता है। अत: इसमें कोई संस्कार भी नहीं होता और भूमा सत्ता की अनन्त शक्ति अणुसत्ताओं को उस प्राणकेन्द्र की ओर गतिशील करती है। बाद के स्तर में अहंकार का विकास होता है। पर अणुमन अपने को संस्कार और संवेगयुक्त अनुभव करता है और स्वीकार करता है। इसके भी बाद एक स्तर आता है जब यह अहंकार अपनी मानसिक गतिविधियों का नियंत्रण करने लगता है।

विकास जगत् में इस स्तर का प्रतिनिधि मनुष्य है। मनुष्य प्रतिसंचर की गतिधारा के अनुकूल उस दिव्य लक्ष्य की ओर जाने की अपेक्षा पीछे भी हट सकता है या ऋणात्मक प्रतिसंचर का मार्ग अपना सकता है। इस ऋणात्मक गति का संवेग अणुमन का स्वीकृत संवेग है क्योंकि मनुष्य से स्तरहीन पशु के संस्कार तो प्रदत्त है परन्तु मनुष्य के संस्कार अर्जित होते हैं। अत: निम्नतर पशु तो अपने अहंकार के कम विकसित होने के कारण प्रतिसंचर के मार्ग पर आगे बढ़ते जाते हैं। पर मनुष्य निम्नतर लक्ष्य अपना कर उस मार्ग से पीछे भी हट सकता है।

विकास के सजीव स्तर में किसी भी सत्ता की अणु संरचना बनाए रखने के लिए मानसिक, शारीरिक तरंगों और प्राणबल का उपयुक्त संतुलन बनाए रखना अनिवार्य है। किसी भी भौतिक अथवा मानसिक सत्ता से सदा ही तरंगें उत्सर्जित होती रहती हैं। यदि भौतिक शरीर की तरंगें और मानसिक शरीर की तरंगें समान्तर हों तभी शरीर और मन की सहकारी एकल संरचना बनी रह सकती है।

संघटक तत्वों में परस्पर सहयोगिता और सामंजस्य के अभाव में यह समान्तरता टूट सकती है फलस्वरूप संरचना की संहति ही विनष्ट हो जाएगी। सजीव विकास के स्तर में भौतिक संघर्ष, मानसिक संघर्ष और भूमा के आकर्षण से उत्थान संभव होता है। उदाहरण के लिए मनुष्य के सम्पर्क में आने वाले पशु को देखें। कुत्ते की मानस तरंगें मनुष्य की मानस तरंगों के सम्पर्क में आकर उनके संघर्ष के परिणामस्वरूप कुत्ते की मानस तरंगों में अनुकूल विकासात्मक परिवर्तन होता है और उसकी तारंगिक दीर्घता बढ़ जाती है। एक ऐसा स्तर भी आ सकता है जब कुत्ते की विकसित मानसिक तरंगों का उसकी दैहिक संरचना से सामंजस्य भंग हो जाए। दोनों की समान्तरता टूटने से दोनों अलग हो जाएँगे और विलग हुए मन को अपने सामंजस्य के लिए अनुकूल दैहिक संरचना की खोज करनी पड़ेगी। सामान्य बातचीत की भाषा में इसी को कहेंगे 'कुत्ता मर गया' और उसका दैहिक परिवर्तन हो गया।

यदि उच्चतर विचार तरंगों के सम्पर्क से उन्नत तारंगिक दीर्घता आती है जिससे एक और उन्नत शरीर मिलता है तो इसीप्रकार निम्नतर, नीच विचारों के सम्पर्कगत संघर्ष से मानस तरंगों की दीर्घता कम भी हो सकती है। इस दशा में भी समान्तरता नष्ट होकर एक दूसरे का विच्छेद हो जाएगा। उदाहरण के लिए यदि किसी मनुष्य की मानस तरंगों का उसके मनुष्य शरीर के साथ उचित सामंजस्य न हो तो उसके मन को अनुकूल सामंजस्य योग्य शरीर के साथ जुड़ना होगा। यह सामंजस्य योग्य शरीर किसी निम्नतर पशु, पौधा और यहाँ तक किसी स्थूल जड़ तत्व का भी हो सकता है। रामायण में गौतम पत्नी अहल्या अपने हीन आचरण के कारण पत्थर हो गई थी– यह उदाहरण ऋणात्मक

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [34]

प्रतिसंचर को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है। यदि किसी निम्नतर पशु या लतागुल्मों का उच्चतर मानस तरंगों के सम्पर्क से उन्नयन संभव है, जिससे कि वह मानव की शारीरिक संरचना का आश्लेष पा सके तो इसके विपरीत निम्नतर मानस तरंगों के सम्पर्क से, उन्नत मन की स्थूलता की वृद्धि भी सहज है, अवनयन भी संभव है।

उपयुक्त सामंजस्य एवं समान्तरता हो तो शारीरिक और मानसिक देहों के मिलन से जीवन आता है और विपरीत अवस्थाओं में विच्छेद होकर मृत्यु होती है। शारीरिक तरंगें जड़तर हो जाने से वृद्धावस्था में भी ऐसा विच्छेद संभव है, अन्य प्रकार की किसी शारीरिक क्षमताहीनता के कारण भी यह संभव है। इस अवस्था में कोई योग्य चिकित्सक आकर भौतिक शरीर की आवश्यक शारीरिक तरंगें बनाए रखने में अनेक उपायों से समर्थ हो सकता है। विज्ञान के द्वारा दैहिक तरंगों के उचित सामंजस्य से जीवन की अवधि बढ़ाई जा सकती है पर यदि मस्तिष्क में परिवर्तन लाकर मानस देह में परिवर्तन लाया जाए तो उसका व्यक्तित्व स्वयं बदल जाएगा। ऐसे परिवर्तन का अर्थ है, मनुष्य का रूपान्तरण और इसप्रकार श्रीमान 'क' श्रीमान 'ख' में बदल जाएँगे। और इस प्रकार श्रीमान 'ख' को नया जीवन मिल जाएगा।

जीवन के अस्तित्व या संहति के लिए शारीरिक और मानसिक देहों की तरंगों के बीच उपयुक्त सामंजस्य और प्राणशक्ति के साथ इसका, समन्वयात्मक सहयोग नितान्त प्रयोजनीय है। पाँच अन्त: और पाँच बहि: वायुओं का मिलित नाम है, प्राणा:। पाँच अन्त:वायु है- प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान और बहि:। वायु है- नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय।

प्राण का कार्यक्षेत्र नाभि बिन्दु से स्वर यंत्र तक है और कार्य

श्वास और प्रश्वास है। अपान पायु से नाभि बिन्दु तक स्थित है और इसका कार्य मूत्र और उत्सर्ग की गति को नियंत्रित करना है। समान नाभि क्षेत्र में स्थित है और इसका कार्य प्राण और अपान का सम्बन्ध बनाए रखना है। उदान का स्थान कण्ठ में है और यह स्वर यंत्र एवं आवाज को नियंत्रित करता है। व्यान रक्त संचार और ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रियों के कार्य को व्यवस्थित करता है। बहि: वायुओं के कार्य निम्नलिखित हैं –

नाग अर्थात् सर्प, कूदने, शरीर को फैलाने और किसी वस्तु को फेंकने का बल देता है। कूर्म अर्थात् कछुआ संकुचन की शक्ति देता है। कृकर जम्हाई लेने में मदद करता है। देवदत्त भूख और प्यास के लिए उत्तरदायी है और धनंजय निद्रा एवं तन्द्रा लाता है।

शरीर के किसी भाग में भौतिक अक्षमता या दोष आ जाने से प्राण और अपान दुर्बल हो जाते हैं। तब समान भी प्राण और अपान के बीच सामंजस्य बनाए रखने में असमर्थ हो जाता है। परिणामस्वरूप नाभिक्षेत्र और स्वरयंत्र में भयंकर संघर्ष छिड़ जाता है। इसी को शरीर विज्ञान में 'नाभि-श्वास' कहते हैं। जब समान क्षमता खो देता है तब प्राण, अपान और समान तीनों वायु एकमेक हो जाते हैं और उदान पर आघात करते हैं। उसी क्षण उदान भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व खो देता है और व्यान भी उनके मिलित बल से मिल जाता है; इसी क्रम में अब ये पाँचों मिलकर एक होकर शरीर के प्रत्येक दुर्बल मार्मिक स्थल पर बाहर निकलने के लिए जोरदार आघात करते हैं। ये मिलित पंच वायु शरीर से बाहर निकल जाते हैं और उनके शरीर से बाहर निकल जाने से धनंजय के अतिरिक्त सारे बहिर्वायु भी शरीर का साथ छोड़ देते हैं। धनंजय निद्रा लाता है। अत: मृत्यु की गंभीर निद्रा के लिए,

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [35]

जब अन्य बहिर्वायु शरीर छोड़ देते हैं तब भी धनंजय शरीर का साथ नहीं छोड़ता। जब शरीर को जला दिया जाता है या वह बिल्कुल क्षय हो जाता है तब धनंजय भी शरीर का साथ छोड़कर विराट् विश्व में, प्रकृति की इच्छा की प्रतीक्षा में पुन: सक्रिय होने के लिए इन्तजार करता रहता है।

शरीर की भौतिक और मानसिक तरंगों की समान्तरता विनष्ट होने का अर्थ है मृत्यु। मृत्यु का भौतिक कारण है धनंजय के अतिरिक्त शेष नौ वायुओं का शरीर त्यागकर अनन्त विश्व में मिल जाना। मानसिक तरंगें शारीरिक तरंगों के साथ सामंजस्य के अभाव में शरीर का साथ छोड़ कर बहिर्विश्व में मिल जाती हैं। इस वियुक्त मानस देह के साथ पूर्ववर्ती जीवनों का अनभिव्यक्त संवेग रह जाता है। प्रकृति के सार्वभौम नियमों के अनुकूल प्रत्येक बल को अभिव्यक्त होना ही पड़ेगा; अत: इन अनभिव्यक्त संवेगों को भी अभिव्यक्त होना ही है। अब यह भूमा की रजोगुणी शक्ति का दायित्व है कि वह इस वियुक्त मन को उचित अभिव्यक्ति के लिए अनुकूल भौतिक समान्तरता प्रदान करे। जो वह इसे सूक्ष्म दैहिक संरचना में प्रविष्ट करा कर पूरा कर लेती है।

मन है तो मानसपटल भी है और पुरुषोत्तम की प्रतिछाया अवश्य रहेगी। अत: आत्मा सदा ही जीवात्मा के साथ संलग्न रहती है। चरम ज्ञातृत्व, कर्त्तृत्व और स्थितित्व का आधार तो आत्मा में स्थित है आत्मा साक्षीसत्ता है इसके बिना मन के काम करने या अन्तर्हित संस्कारों को तन्मात्रों में सक्रिय करने का कोई अर्थ ही नहीं है। आत्मा के बिना मन अन्तर्गामी तन्मात्रों को न तो पा सकता है और न ही प्रत्यक्षीकरण कर सकता है। इसप्रकार अन्तिम ज्ञातृत्व और कर्तृत्व आत्मा में स्थित है। आत्मा ही मन का साक्षी है। अत: आत्मा में ही मन का चरम आश्रय है। इस प्रकार

वियुक्त मन की एक साक्षी सत्ता है जो निष्क्रिय दशा को संप्राप्त मन या कर्माशय: संस्कार या संभावनाओं में परिणत प्रतिक्रियाओं का भी साक्षी है।

यहाँ हमने मृत्यु के भौतिक कारणों की चर्चा की है। अब जीवन के भौतिक कारण की समीक्षा करें।

खाया हुआ पदार्थ, पाचक रसों से मिलकर रस बनता है जो अनावश्यक पदार्थ मूत्र और अन्य त्याज्य रूपों में बाहर हो जाता है। रस का सार तत्त्व रक्त बनता है और इस प्रक्रिया में भी त्याज्य पदार्थ रद्द हो जाते हैं। रक्त का सार तत्त्व मांस में परिणत होता है और मांस का सार तत्त्व मेद या वसा में बदलता है और इसप्रकार अस्थि, मज्जा और अन्त में शुक्र बनता है। इन सात धातुओं से भौतिक शरीर बनता है। इनका अन्तिम सार शुक्र है। शुक्र के तीन स्तर हैं लसिका या प्राणरस, शुक्रकीट और तरल शुक्र या वीर्य। पूरे शरीर में नाड़ी संस्थान के साथ-साथ लसिका तंत्र समान्तर रूप से फैला हुआ है जिससे लसिका प्रभावित होती रहती है। जिन ग्रन्थियों से होकर लसिका तंत्र का मार्ग है उन ग्रन्थियों को लसिका ग्रन्थियाँ या लिम्फैटिक् ग्लैंड्स कहते हैं। लसिका का कार्य रक्त का परिशोधन कर शरीर का सौन्दर्य और दीप्ति बढ़ाना है। ग्रंथियों में पहुँचकर यह ग्रंथिरस या हारमोन्स के उपयुक्त क्षरण में सहायक होती है। आन्तरिक गुणवत्ता के विकास के लिए पर्याप्त मात्रा में लसिका रस होना आवश्यक है। लसिका ऊर्ध्वमुख होकर मस्तिष्क में पहुँचकर बल देती है। बुद्धिजीवियों के लिए उपयुक्त परिमाण में लसिका प्रयोजनीय है। लसिका की कमी या किसी प्रकार की त्रुटि संबंद्ध अंग में, जिसमें यह कमी या दोष हो, कोई रोग पैदा कर देगी। उदाहरण के लिए पैरों में लसिका दोष से 'हाथी पाव' हो जाता है। ग्रीष्म प्रधान देशों में १२ से १४ वर्षों

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [36]

तक और शीत प्रधान देशों में १३ से १६ वर्षों की उम्र तक कुछ विशेष स्नायुकेन्द्र शरीर में विकसित होते हैं। पुरुष देह में उन्हें अंडाशय और स्त्री देह में उन्हें डिम्बाशय कहते हैं। मस्तिष्क को उचित मात्रा में आपूर्ति के बाद बची हुई लसिका अंडाशय के सम्पर्क में आकर शुक्रकीट या शुक्राणु बन जाती है। उपवास की उपयुक्त व्यवस्था के द्वारा लसिका का अतिरिक्त उत्पादन रोका जा सकता है। हीन विचार भी लसिका से अतिरिक्त शुक्राणु निर्माण में सहायक होते हैं। यदि अतिरिक्त लसिका नष्ट हो जाए तो कोई हानि नहीं होगी। शुक्रकीट, लसिका एवं शुक्राशय या सेमिनल सैक में संचित अन्य रस मिलकर तरल शुक्र या वीर्य कहलाते हैं।

स्त्री शरीर में यह अतिरिक्त लसिका डिम्ब में बदल जाती है। अनुपयोगी डिम्ब और दूसरी बहुत सारी गन्दगियाँ हर मास के अन्तिम तीन चार दिनों में मासिक ऋतुस्राव के रूप में बाहर निकल जाती है। पुरुष का शुक्राणु और स्त्री का डिम्ब एकत्र मिलकर एक भौतिक संरचना बनती है। जब स्त्री के गर्भ में एक दैहिक संरचना पल रही होती है तब और शुक्राणु या तिरस्कृत डिम्ब आदि की कोई जरूरत नहीं पड़ती। अत: गर्भावस्था के काल में स्त्री को मासिक ऋतुस्राव नहीं होता। सारा ही लसिका द्रव गर्भस्थ शिशु के निर्माण में व्यय हो जाता है।

गर्भाशय में पहले शिशु की आधारभूत दैहिक संरचना बनती है। इस ढाँचा की अपनी स्थितिज ऊर्जा होती है और इससे तारंगिक दीर्घता का उत्सरण होने लगता है। इसे शुक्राणु के संवेग से यह ऊर्जा मिलती है। शुक्राणुओं को पुरुष शरीर की स्थितिज शक्ति पुंज से गति मिलती है। इसी हेतु कहा जाता है कि जीवन पहले पुरुष के शुक्राणु में पलता है और बाद में मातृगर्भ में। तब

कहीं तीसरे स्तर पर धरती माता की करुणामयी गोद उसे उपलब्ध होती है।

शरीर का प्रारंभिक ढाँचा प्रारंभ होता है शुक्राणु से, जिसमें घनात्मक गति होती है; एक स्पष्ट तारंगिक दीर्घता होती है। इसीलिए दैहिक संरचना में भी, उनसे विकसित होने के कारण, अवश्य तदनुकूल तारंगिक दीर्घता होगी। हम पहले भी देख चुके हैं कि पूर्वजीवन में स्थूल शरीर से वियुक्त मन में भी स्थितिक रूप से तारंगिक दीर्घता संचित या वीजायित रहती है जिसकी अभिव्यक्ति अवश्यंभावी है। वियुक्त मन को उपयुक्त अभिव्यक्ति के लिए भौतिक दैहिक समान्तरता की प्रयोजनीयता है। अत: भूमा मन की रजोगुणी प्राकृत शक्ति, अनन्त कारण जगत् में स्थित वियुक्त मन या विदेही मन को वहाँ से निकालकर, अपने विशाल कम्प्यूटर से, उसके अनुकूल मातृगर्भ में पल रही समान्तरतायुक्त दैहिक संरचना के साथ, यथासमय, संयुक्त कर देती है। भौतिक जगत् में जीवन का अवतरण होता है।

जमालपुर, ०२/०६/१९५९

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [37]

८. जगत् विकास

पिछले अध्यायों में यह अच्छी तरह स्पष्ट हो गया है कि विश्व की चरम अनादि अनन्त सत्ता ब्रह्म एक है और उसकी संगिनी प्रकृति की सत्त्व, रज: और तम: तीन शक्तियाँ हैं। स्वभाव से ही ये संघर्षशील हैं। इनकी दिशा अनियमित, बेतरतीब है और फलत: उनकी गति अनेक भुज चित्र बनाती है। यह प्रकृति 'अनुच्छून्या' और यहाँ ब्रह्म विषयरहित है, क्योंकि इस दशा में विषयी कर्तृभाव अथवा विषयभाव या कर्म दोनों का अभाव है इसलिए ब्रह्म को निर्गुण कहते हैं। निर्गुण अर्थात् प्रकृति के गुणों से रहित। सामान्य भाषा में कहते हैं कि प्रकृति ब्रह्म को अपने प्रभाव के अधीन नहीं कर पाई है। अत: इस दशा में सृष्टि या जगत् का बीज भी नहीं है।

यदि एक बिन्दु पर दो से अधिक बल सक्रिय हों तो उसकी ज्यामितिक परिणति त्रिभुजाकार होती है। इस नियम के आधार पर तीनों संघर्षरत प्राकृतिक शक्तियाँ शक्ति त्रिभुज निर्माण करती हैं। प्राथमिक स्तर पर यह त्रिभुज संतुलित रहता है। अष्टभुज, सप्तभुज एवं अन्य बहुभुज आकृतियाँ सक्रिय अवस्था में त्रिभुज में परिणत हो जाती है पर तीनों शक्तियों के उपयुक्त सामंजस्य के अभाव में परिणामभूत बल नहीं निकल पाता। इस संतुलन की दशा में प्रकृति के तीनों गुण वर्तमान तो रहते हैं; पर वे सन्तुलित रहते हैं। संतुलन की यह अवस्था इसके पूर्व की दशा से भिन्न होती है; केवल इसलिए नहीं कि अब एक शक्ति त्रिभुज बन गया है बल्कि इसलिए भी कि अब सत्त्व, रज: और तम: शक्तियाँ साफ-साफ

पहचान में आ जाती हैं। पहले वाली अवस्था में ये बिना किसी स्पष्टता के प्रवाह की दशा में थीं। पर इस शक्ति त्रिभुज की दशा में इन तीनों शक्तियों में निरन्तर पारस्परिक सत्तात्मक विनिमय चल रहा है। यह पारस्परिक विनिमय और रूपान्तरण 'स्वरूप परिणाम' कहलाता है। इस रूपान्तरण में कोई बन्धन नहीं। यद्यपि सत्त्व रजोगुण में अनुप्रविष्ट हो रहा है और रज: तम: में, तम: सत्त्व में..... पर इसमें पूर्ण संतुलन बना हुआ है। यह संतुलित प्रकृति केवल प्रकृति के नाम से जानी जाती है, कोई विशेषण नहीं।

प्रकृति के विकास के प्रत्येक स्तर पर मूल सत्ता है पुरुष। जब वह शक्ति त्रिभुज के घेरे में आ जाता है, यद्यपि उस दशा में कोई परिणाम व्यक्त न हुआ हो, पर इस अवस्था के पुरुषभाव और पूर्व अवस्था के पुरुषभाव में जब कि प्रकृति अनुच्छून्या थी, एक सैद्धान्तिक अन्तर है। शक्ति त्रिभुज संपृक्त पुरुष न केवल सैद्धान्तिक बन्धन में है अपितु, उसकी अभिव्यक्ति की संभावनाएं भी छिपी हुई हैं। पुरुष अब तक रूपान्तरित नहीं हुआ है– कारण है शक्ति त्रिभुज का सन्तुलन, पर रूपान्तरण की पुरजोर संभावना है। अत: यद्यपि इस अवस्था में पुरुष अप्रभावित है पर यहाँ पुरुष में सैद्धान्तिक विशेषता है। इस अवस्था के पुरुष भाव को 'शिव' और प्रकृति को 'शिवानी' कहते हैं। प्रकृति के इसी रूप को 'कौशिकी' भी कहते हैं। क्योंकि परवर्त्ती विकास प्रक्रिया में विकसित होने वाले भिन्न-भिन्न कोशों के उद्‌गम का मूल कारण यही है।

यहाँ शिव और शिवानी का अन्तर मात्र सैद्धान्तिक है क्योंकि वास्तव में कोई अभिव्यक्ति नहीं है। ज्यों ही शक्ति त्रिकोण से परिणामभूत बल स्वरूप लेता है, पुरुष और प्रकृति का व्यावहारिक अन्तर स्पष्ट हो जाता है। संघर्षरत तीनों शक्तियों का साम्य नष्ट

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [38]

हो जाने से यह परिणाम प्रस्तुत होता है और प्रकृति के कृपान्वयन के कारण पुरुष का कायान्तरण आरम्भ हो जाता है जिस बिन्दु से परिणामभूत बल नि:सृत होता है उसे 'बीज' कहते हैं। तन्त्र में इसी को काम बीज भी कहते हैं इसी में जगत् विकास की सहज कामना समाहित है।

'शिवशक्ति विभागेन जायते सृष्टिकल्पना' अर्थात् शक्ति के त्रिकोण में घिरा हुआ शिव और प्रकृति परस्पर क्रिया प्रतिक्रियारत होकर सृष्टि के विकास के दैवी कारण है। काम बीज तो स्थाणु है और अविद्या माया के द्वारा अधिशासित है और इसी के कार्यक्षेत्र में स्थित है। इसी बिन्दु में भूमा की कामना समायी हुई है। अत: इसे इच्छा बीज और कामना बीज भी कह सकते हैं।

इस बिन्दु के बाद दूसरा स्तर परिणामभूत बल अथवा कामना की अभिव्यक्ति का स्तर हैं। यह परिणामभूत बल निश्चय ही सरल रेखा में होगा (ज्ञान-शक्तिनाद) क्योंकि कोई भी बल किसी दिशा में ही अभिव्यक्त होगा। दार्शनिक दृष्टि से यद्यपि यह बिन्दु तमोगुण के द्वारा अधिकृत है पर यहाँ से जो अभिव्यक्ति होगी वह सत्तवगुण के कारण होगी। प्रकृति को इस स्तर पर भीषण वेग होने पर भी वह मुख्यत: सात्त्विक है। यद्यपि इसमें रजोगुण अन्दर ही अन्दर पूर्ण सक्रिय रहता है। अभिव्यक्ति की धारा इस स्तर पर निश्चय ही सरल रेखा में होगी क्योंकि सत्त्वगुण विशिष्ट बल सरल रेखाकार ही होगा।

स्वभाव से प्रकृति नियमित रूप से पुरुषभाव में क्रमिक रूप से अन्तर्लीन होती रहती है। अत: धारा में परिवर्तन आता है और अभिव्यक्ति का वेग क्रमश: कमता जाता है। इन संघर्षरत प्राकृतिक शक्तियों के अविराम द्वन्द्व के कारण आन्तरिक घर्षण बढ़ता जाता है। इसप्रकार प्रकृति के क्रमिक रूप से लय होते रहने एवं

आन्तरिक घर्षण की वृद्धि से (जिसे तन्त्र में गुणक्षोभ कहते हैं) यह गतिधारा सरल रेखाकार नहीं रह पाती और वक्राकार होने लगती है। एवं एक तरंगदीर्घता पा लेती है। इसी की घटती वक्रता को 'कला' (या क्रियाशक्ति) कहते हैं। कामबीज से कला तक सक्रिय प्रकृति का स्तर 'नाद' और प्रकृति 'भैरवी' कहलाती है तथा इस स्तर में पुरुष को 'भैरव' कहते हैं।

दूसरा स्तर। रजोगुण सत्त्वगुण पर विजय पा लेता है और आगे तमोगुण क्रमश: रजोगुण पर प्रभावी होने की ओर बढ़ता जाता है। फलत: गत्यात्मक वक्रता का अनुक्रमण होने लगता है अर्थात् पूर्व की वक्रता के बाद दूसरी वक्रताएँ आती हैं। 'कला' के बाद एक के बाद एक वक्रताओं का क्रम आ जाता है। पर यह आवश्यक नहीं कि पूर्ववर्ती वक्रता के बराबर तारंगिक दीर्घता वाली वक्रता ही बाद वाली भी हो। यथार्थत: जैसे-जैसे तारंगिक दीर्घता कमती जाती है उनमें पारस्परिक अन्तर बढ़ता जाता है। इन वक्रताओं का क्रम 'सदृश परिणाम' कहलाता है। यही वह स्तर है जहाँ तमोगुण रजोगुण पर प्रभावी होता है, विराट् विश्व की अभिव्यक्ति का कारण होता है। इस प्रकार सृष्टि विकसित हो गई। इस जगत् विकास या कायान्तरण के लिए कारणीभूत प्रकृति को 'भवानी' कहते हैं। यही प्रकृति विकास की ऊर्जा है। भवानी से प्रभावित कायान्तरित पुरुषभाव 'भव' कहाता है। संस्कृत में 'भव' का अर्थ 'होना' है। यहाँ पुरुष ही सृष्टि का विश्व बन गया है। इसीलिए उसे 'भव' कहते हैं। भव और भवानी के बीच व्यावहारिक अन्तर अधिकतम है जबकि 'भैरव' और 'भैरवी' के बीच का अन्तर सैद्धान्तिक मात्र होने से व्यावहारिक होने की ओर बस आगे बढ़ ही रहा था।

'संचर और प्राण' शीर्षक प्रथम अध्याय में कहा गया है कि

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [39]

सारा विश्वब्रह्मांड भूमामन का अविराम कल्पना प्रवाह है। भूमामन का, अभिव्यक्ति के लिए प्रसारण, प्रथम विधायक प्रयास है। जिससे कि भूमा मन स्वयं विश्व ब्रह्माण्ड के रूप में रूपायित होता प्रतीत होता है। विकासात्मक अभिव्यक्ति के इस पथ में मनुष्य शरीर कलात्मक वक्रताओं के निर्माण के बाद के स्तरों में अस्तित्व में आता है। दैहिक वक्रताओं की जटिलता तो बढ़ती जाती है फिर भी अपने अवतरण बिन्दु के खूब निकट ही रहती है। मानसदेह अति सूक्ष्म होती है एवं साधना या आध्यात्मिक अभ्यास के द्वारा अविद्या माया की शक्ति का प्रतिरोध और अतिक्रमण कर बृहद् की आकर्षणी विद्यामाया के प्रभाव क्षेत्र में प्रवेश करने की ओर बढ़ सकती है। इसी क्रम में मानसिक मुक्ति संभव है।

निर्विकल्प समाधि या मोक्ष तभी संभव है यदि मानस देह, किसी बल से, भूमा की कल्पना धारा के द्वारा प्रसूत एकात्मक घनात्मक बल की विपरीत दिशा में अपनी गति को मोड़ सके। भौतिक देह के स्थूलतम अहंकार विकास के क्षण से ही इसका प्रारंभ करना होगा। एकात्म घनात्मक बल का विरोधी बल निश्चय ही ऋणात्मक होगा। अत: निर्विकल्प साधना का मार्ग, जो चरम लक्ष्या मोक्ष तक पहुँचा सकेगा- सदा ऋणात्मकता का मार्ग होगा। सैद्धान्तिक ऋणात्मक बल अपनी मौलिकता ऋणात्मिकता के साथ, जो मोक्ष संप्राप्ति के लिए, पुरुषभाव में लीन होने को आतुरतापूर्वक तत्पर रहती है। 'कुलकुण्डलिनी' कहते हैं।

व्यष्टि देह की ऋणात्मिका शक्ति होने के कारण कुल कुण्डलिनी प्रत्येक व्यक्ति के लिए भिन्न होती है। प्रारंभिक स्तर में साधना बहुत कुछ दैहिक- मानसिक मुक्ति के लिए होने के कारण इसका प्रारंभिक बिन्दु अवश्य स्थूलतम अभिव्यक्ति में निहित होगा। भौतिक देह के उस भाग में यह होगा जहाँ से शरीर का

जड़तम अंश क्षिति का नियंत्रण होता हो। अत: कुलकुण्डलिनी का प्रारंभ बिन्दु मूलाधारचक्र में है। यह मौलिक रूप से स्वभावत: ऋणात्मक है और इसका प्रारंभ बिन्दु व्यक्ति का व्यक्तिगत ऋणात्मक कामबीज है; जैसे प्रकृति की परिणामभूता धनात्मिका शक्ति की अभिव्यक्ति का प्रारंभ बिन्दु भूमामन का कामबीज या इच्छाबीज है। अन्तर इतना ही है कि विराट् का कामबीज धनात्मक है और व्यक्ति का ऋणात्मक।

जिस क्षेत्र में कुलकुण्डलिनी का आवास है उसे कामपीठ कहते हैं। मूला धनात्मिका शक्ति अर्थात् भूमामन का कामबीज 'शम्भुलिंग' के 'पीठ' पर है और ऋणात्मिका शक्ति का 'स्वयंभू लिंग' के पीठ पर योग साधक अथवा वैज्ञानिक पद्धति से आध्यात्मिक साधना करने वाले व्यक्ति में इस कुलकुण्डलिनी की सहायता से मूला ऋणात्मिका शक्ति अविद्या माया के विरूद्ध आक्रामक संघर्ष करने को उठ खड़ी होती है और मूला धनात्मिका शक्तिधारा पर विजयी हो जाती है। भूमा चैतन्य से चरम एकरूपता के लिए यही एक मात्र समझौताहीन आक्रामक आध्यात्मिकता का मार्ग है।

जमालपुर, ०३/०६/१९५९

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [40]

९. मानसाध्यात्मिक समान्तरता

जीवन, मृत्यु और संस्कार के पिछले अध्याय में स्पष्ट हो चुका है कि भूमा चैतन्य अपनी चिति शक्ति से साक्षी सत्ता का दायित्व वहन करती है। इस चितिशक्ति की तारंगिक दीर्घता अनन्त है, अत: कहना चाहिए इसका प्रवाह सरल रेखानुगामी है। जब मन अपनी अणुसत्ता की साक्षी आत्मा को तथाकथित रूप से अपना विषय बनाता है तो मानसिक तरंगें क्रमश: सीधी सरल रेखाकार होती जाती है। पूर्ण समर्पण ही इसका एकमात्र उपाय है नान्य: पन्था। सच्ची बात तो यह है मन स्वयं आत्मा का विषय है। इस क्रम में अन्त में जब मन की तारंगिक दीर्घता भी अनन्त हो जाएँगी और वे भी सरल रेखानुप्रवाही होंगी, मन स्वत: आत्मरूप हो जाएगा। मन आत्मा में रूपान्तरित हो जाएगा। इसी अवस्था का नाम समाधि है। इसमें मानस तंरगें आध्यात्मिक तरंगों की समान्तरता पा लेती है। इस मानसाध्यात्मिक समान्तरता को 'भाव' कहते हैं। जब यह भाव मानस स्तर पर अवधारित होता है तब इसे आइडियोलाजी या आदर्श कहते हैं अत: आइडियोलॉजी का आदर्श भाव की मानसिक अवधारणा के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसलिए किसी व्यक्ति दल, राष्ट्र या संघ के भौतिकवादी, राजनीतिक सिद्धांतों को यदि आदर्श या आइडियोलाजी कहते हैं तो यह शब्द का गलत प्रयोग है। आदर्श में एक आध्यात्मिक अवधारणा लगी हुई है। यह तो एक प्रेरणा है जिसमें आत्मिक सत्ता की समान्तरता है।

शब्द या ध्वनि अपने प्रारंभिक स्तर पर एक मानसिक तरंग

है। अब देखें अर्थ क्या है? एक ध्वनि सुनते हैं पर उस ध्वनि का संकेत तब तक स्पष्ट नहीं होता जब तक श्रोता की मानस तंरगें किसी भौतिक वस्तु के स्वरूप से मेल नहीं खाती। शिशु 'बिल्ली' शब्द सुनता है। उसकी माँ बिल्ली को दिखाकर बताती है- देख बेटा बिल्ली, कल यही तुम्हारा दूध पी गई थी। बच्चा माँ के द्वारा सुनी हुई ध्वनि और देखे उस रूप को मिलाता है- रूप और ध्वनि। इसप्रकार वह बिल्ली शब्द की ध्वनि से मन में उठने वाली तंरगों और बिल्ली के रूपात्मक ढाँचा से आता हुई भौतिक तरंगों के बीच एक समान्तरता बनाता है। अत: किसी शब्द का अर्थ है मानसिक और भौतिक तरंगों की समान्तरता और शब्द है एक मानस तरंग मात्र। इसप्रकार मानसाध्यात्मिक समान्तरता 'भाव' है और मनोभौतिक समान्तरता शब्द का अर्थ है।

मनोभौतिक समान्तरता सीधी भी हो सकती है, तिर्यक् भी। तिर्यक् समान्तरता तब कहते हैं जब शब्द या ध्वनि का साक्षात् संकेत प्रत्यक्ष रूप से नहीं अवगम्य होता अर्थात् प्रत्यक्ष रूप से भौतिक समान्तरता नहीं बन पाती पर यह समान्तरता आन्तरिक संस्कारवश जो पहले से बने हुए होते हैं, या अन्य किसी के द्वारा वर्णित लक्षणों, वर्णनों के आधार पर, बन जाती है।

मानसभौतिक समान्तरता सदा ही मानस तरंग को स्थूलतर बनाती है, और मानस तरंगों की जड़ता से मनुष्य जाति जड़तर जीवों में परिणत हो जाएगी, जो ऋणात्मक प्रतिसंचर का मार्ग हैं। इसप्रकार आध्यात्मिक उन्नति सपना हो जाएगी। पर दैनिक जीवन में हमें शब्दों के अर्थ लगाने होते हैं और मनोभौतिक समान्तरता प्रस्थापित करनी पड़ती है। तब क्या मनुष्यजाति का भविष्य अन्धकारमय है? नहीं, ऐसा नहीं है। हम चाहें तो भौतिक तरंगों पर आध्यात्मिक तरंगों का प्रत्यारोपण कर उसमें अनन्त आत्मिक

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [41]

तरंगों की अभिव्यक्ति की अनुभूति करते हुए उसकी सर्वोच्चता पा सकते हैं। आनन्द मार्ग के दर्शन में ब्रह्मचर्य का यही तात्पर्य है। ब्रह्मचर्य का अर्थ वीर्यधारण मात्र नहीं है अपितु अणुमानस की मानस तरंगों का विराट् ब्रह्म की अनन्त तरंगों में लय करना है। आनन्द मार्ग ने आध्यात्मिक साधकों के लिए इस ब्राह्मी भाव ग्रहण की एक व्यावहारिक प्रक्रिया की शिक्षा का विधान किया है। इस पद्धति से मानस तरंगें जड़ीभूत होने से बच जाती है। इतना ही नहीं, आनन्द मार्ग के द्वारा बताई भाव-साधना के द्वारा प्रत्येक कार्यारंभ के समय साधक का मन ब्रह्मचर्य की ओर चरम मुक्ति के एकमात्र मार्ग मानसाध्यात्मिक तारंगिक समान्तरता की ओर क्रमश: आगे बढ़ता जाएगा। मानसिक मुक्ति के लिए मानसिक तरंगों का सूक्ष्मतर होता जाना आवश्यक है और यह तभी संभव है जब कि कोई केवल सूक्ष्मतर मानसतंरगों के ही सम्पर्क में रहे या आध्यात्मिक बल की प्रेरणा से मानस तरंगों की आध्यात्मिक समान्तरता पा ले।

आनन्द मार्ग के दर्शन के अनुसार मनुष्य के पूर्ण आध्यात्मिक अनुभूति के लिए समेकित व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नितान्त अनिवार्य है। व्यक्तित्व का अर्थ तीनों ही है- भौतिक शरीर या जड़ाधार। मानसदेह या भावाधार एवं आत्मिक अथवा अतिमानस देह या चेतनाधार अर्थात् यह भौतिक, अतिभौतिक या मानसिक और आत्मिक देहों का सहयोगात्मक मिश्रण है। अत: प्रत्येक का उपयुक्त विकास आवश्यक है। दैहिक विकास के लिए उपयुक्त पोषण आवश्यक है। इस विषय पर आनन्द मार्ग चर्याचर्य भाग-३ देखें, जिसमें साधकों का भोजन विधान वर्णित है। भौतिक क्षेत्र में संघर्ष या श्रम भौतिक शरीर को निर्मल करने में सहायक होता है। मानस देह को भौतिक और मानसिक संघर्ष एवं मानसिक पथ्य

चाहिए। अपने पुरखों के द्वारा समर्थित पुरातन युग प्रचलित विवेकहीन विश्वासों से चिपटे रहने की अपेक्षा आधुनिक प्रगतिशील विचारों को आक्रामक रूप से अपनाने से मानसिक संघर्ष होता है। मानसिक पथ्य तो भावों से - अर्थात् मानसाध्यात्मिक समान्तरता से मिलेगा। आत्मिक देह है अतिमानस या उच्चतर मानस, सूक्ष्मतर या उच्चतर रुचि। जब अणुमानस अपने को भूमा मानस में लीन रखता है तब क्षुद्र या जड़ विचार स्वत: उड़ जाते हैं। आत्मिक देह, वृहद् के आकर्षण उसका हो जाने की तीव्रतर आकांक्षा से, पुष्ट होती है। यही सच्ची भक्ति है। अन्तिम मुक्ति या मिलन के लिए यही है एकमात्र अन्तिम मार्ग।

आदि शंकराचार्य ने मोक्ष के लिए भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग कहा है-

"मोक्ष कारणं समग्र भक्तिरेव गरीयसी।"

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [42]

१०. समाजचक्र में सद्विप्र का स्थान

विकास के प्रारंभिक चरण में मनुष्य का कोई समाज नहीं था। सारा तंत्र व्यक्तिवादी था। यहाँ तक कि परिवार की भी धारणा नहीं थी। बुद्धि विवेकरहित पाशवी जीवन था। प्रकृति का मुक्त स्वच्छन्द खुला आँगन ही उसका आवास था। शारीरिक बल का राज था जो जोरदार थे कमजोरों के बूते राज करते थे और उनके सामने सिर झुकाकर समर्पण करना ही कमजोरों का भाग्य था। तब तक सम्पत्ति खड़ी करने का विचार नहीं आया था। लोग शारीरिक मेहनत करते थे, सब करते थे इसलिए बौद्धिक शोषण का जमाना नहीं था। पशुतुल्य जीवन था पर जीवन में पशुता नहीं थी।

यदि शूद्र का लक्षण शारीरिक श्रम और सेवा पर निर्भर करना है तो प्रकृति के इस जंगल राज के युग को शूद्र युग कहेंगे। सब तो शारीरिक मेहनत करने वाले श्रमिक थे। शारीरिक श्रम पर निर्भरशीलता के कारण कुछ चुने हुए लोगों को अपने अतिरिक्त बल के भरोसे बाकी लोगों को अपनी मुट्ठी में रखने का अवसर मिला। ये ही मेठ शूद्रों के नेता बन बैठे।

इसी के साथ परिवार भी बनने लगे। परिवार बनने से अब नेतागिरी बाप से बेटे को या माँ से बेटी को मिलने लगी जो पहले शारीरिक बल पर निर्भर थी अब पहले की चली आ रही हुकूमत और भय के कारण या पशु संतति होने की यादगार के कारण पारिवारिक जागीर बन गई।

बलजोरी करने वालों को अपना रुतबा बनाये रखने के लिए पास-पड़ोस के ऐसे ही बलजोर लोगों की सहायता की जरूरत

होती है। पास-पड़ोस के ऐसे बलजोर लोग प्राय: एक ही कुल के अथवा परस्पर वैवाहिक रिश्तों से सम्बन्धित होते थे। ऐसे शारीरिक बल पर नेता बने लोगों ने क्रमश: एक वर्ग बना लिया जो क्षत्रिय कहलाया। जिस युग में शासन का अधिकार या शस्त्रबल में श्रेष्ठता ही महत्त्व रखती थी उसे क्षात्र युग कहा गया। इस युग के नेता लम्बे, तगड़े, डीलडौल वाले, अपने युग के दारा सिंह, किंगकौंग होते थे। उनके लिए व्यक्तिगत शौर्य, साहस एवं बल ही सब कुछ था- बुद्धिकौशल की उनके लिए कोई कीमत नहीं थी।

भौतिक और मानसिक संघर्ष के कारण बुद्धि और चातुर्य का विकास हुआ और क्षात्र प्रभुता वाले समाज में बौद्धिक प्रतिभा की माँग बढ़ती गई। फलत: शारीरिक बल की सम्मानपूर्ण औकात घटती चली गई। इसके लिए शस्त्र संचालन का कौशल विकसित करना आवश्यक हो गया और इसके लिए जो शरीर से बड़े दुर्धर्ष थे उन्हें भी शरीर से अतिसामान्य लोगों के चरणों में बैठकर शस्त्र विद्या एवं रण कौशल सीखने को बाध्य होना पड़ा। किसी भी देश के अति पौराणिक साहित्य को देखने से अगणित उदाहरण मिलेंगे जिनमें उस युग के शूरवीर, गुरुओं से विशिष्ट शिक्षा लेते चित्रित किए गए हैं। यह शिक्षा क्रमश: शस्त्रों के उपयोग तक सिमटी नहीं रही, अपितु जीवन के अन्य क्षेत्र, युद्धविद्या, चिकित्सा, समाज पर शासन करने के लिए अति महत्त्वपूर्ण संगठन और प्रशासन आदि क्षेत्रों में भी फैली। इस तरह उच्चतर मेधा का महत्त्व दिन-ब-दिन बढ़ता गया और एक समय ऐसा आया कि असली ताकत ऐसे मेधा सम्पन्न, बुद्धिकुशल लोगों के हाथों में चली गई। ये बुद्धिवादी, अपने नाम के अनुसार, बुद्धि, मेधा पर ही आश्रित थे; कोई श्रम नहीं और इसप्रकार वे दूसरों का खून चूसने वाले

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [43]

परजीवी थे; क्योंकि वे समाज के अन्य वर्गों के खून पसीना की कमाई का शोषण कर गुलछर्रे उड़ाते थे। परजीवी बुद्धिवादियों के प्रभुत्व के इस युग को 'विप्र युग' कहते हैं।

अपने बुद्धिकौशल की गरिमा से समाज में अग्रणी तो बन गए पर विप्रों के लिए वंशानुक्रम से मेधागत श्रेष्ठता बनाए रखना क्षत्रियों से अधिक कठिन था। समाज में अपनी प्रभुता, अधिकार और शक्ति को अपनों तक, कुछ ही लोगों में सीमित रखने हेतु इस मेधा, बुद्धि का दूसरों के द्वारा उपयोग पर कड़ा प्रतिबन्ध लगाया। इसके लिए तरह-तरह के अन्धविश्वास फैलाए, धार्मिक आनुष्ठानिक आडम्बर फैलाए, भ्रान्त मान्यताएँ फैलाईं, अविवेकपूर्ण विचार (जैसे भारत में हिन्दुओं की जाति प्रथा) फैलाए। इन सबका सामान्य जनता पर (जो सामूहिक रूप से बुद्धिमान नहीं कही जा सकती) ऐसा भावुकतामय प्रभाव फैलाया था कि वे उनके चरणों के दास थे। संसार के बड़े भाग में मध्य युग में मनुष्य समाज की ऐसी ही दशा थी।

समाज के एक वर्ग के द्वारा लगातार शोषण के कारण उपभोक्ता वस्तुओं के संग्रह और आदान-प्रदान की आवश्यकता पनपी। दूसरी तरह से भी जिन क्षेत्रों में भोज्य एवं जीवनोपयोगी अन्य सामग्रियाँ अधिक उपलब्ध हों वहाँ से अभाव वाले क्षेत्रों में लाने, ले जाने की व्यवस्था की आवश्यकता अनुभव की गई। वर्ग और गोष्ठियों की लड़ाइयों में एक दूसरे के संसाधनों का काफी महत्त्व था। यह केवल उत्पादकों तक ही सीमित नहीं था अपितु उन्हें उपभोक्ता बिन्दु तक लाने, ले जाने के मार्ग से विभिन्न स्तरों पर लेन-देन, रख-रखाव, संभाल सुरक्षा करने वालों तक फैला था। इसप्रकार यह सारा वर्ग वैश्य कहलाया। एक समय ऐसा आया जब यह पक्ष जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग बन गया। तब

तक बड़े स्तर पर उत्पादन एवं बुद्धिकौशल को ही महत्त्वपूर्ण श्रेष्ठता प्राप्त थी। इसप्रकार इन वैश्यों को उच्च स्थान मिल गया। इस वर्ग की प्रधानता के युग को वैश्य युग कहते हैं। व्यक्तिवादी भावना या अमर्यादित संचय की वृत्ति बढ़ने से पूँजीवाद बढ़ता है जब कि उत्पादन के साधन तंत्र पर कुछ ऐसे लोगों का अधिकार होने लगा जो व्यक्तिवादी शोषण में अधिक रुचि रखते थे। इस स्तर पर कहा जा सकता है कि अतिरिक्त संग्रह या परिग्रह की प्रवृत्ति प्रबलतर हो उठी थी। परिग्रह की तृष्णा ने उन्हें मानव जाति के सम्पूर्ण अभिशोषण की मानसिकता तक प्रेरित और उत्साहित किया। इसप्रकार यह स्वयं एक वर्ग बन गया। लोभ और परिग्रह की दौड़ में सब तो टिक नहीं पाए। कुछ लोग टिक पाए जो अपनी पूँजी के बल पर सामान्य तौर पर समाज को और विशेषकर आर्थिक व्यवस्था को प्रभावित कर उन पर आधिपत्य कायम कर सके। एक बड़ा वर्ग इस धोखे में पड़ा रहा कि वह भी इन संसाधनों में भागीदार हो सकेगा, या तो उपेक्षित रहा या इन लोगों के पास कोई बल न रहने के कारण वे इस दौड़ से बाहर फेंके गए। समाज में इसप्रकार के पूँजीवाद के द्वारा शोषित लोगों की गुलाम की हैसियत ही रह गई। वे गुलाम हैं क्योंकि अपनी रोजी रोटी के लिए इन पूँजीपतियों की मजदूरी करने के सिवा इनके पास कोई चारा नहीं है।

शूद्र की परिभाषा एक बार फिर याद करें— शूद्र वे हैं जो शारीरिक श्रम पर निर्भर करते हैं, जिन्हें दो जून रोटी के लिए कठिन मेहनत-मजदूरी करनी पड़ती है। खून-पसीना एक करना पड़ता है। पूँजीवाद के इस दौर में समाज का बड़ा वर्ग शूद्र वर्ग में परिणत हो गया है। इस वर्ग में मानसिक संघर्ष के कारण बड़े पैमाने पर हताशा और असंतोष बढ़ता रहा क्योंकि समाज की

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [44]

मानसिकता आधारभूत रूप से गत्यात्मक स्वभाव की है और मन का अस्तित्व स्वयं निरन्तर संघर्ष के तत्त्व पर टिका हुआ है।

शारीरिक मेहनतकश मजदूर हों या बौद्धिक श्रम करने वाले हों, सब श्रमिकों को संगठित होकर अस्वाभाविक बन्धनों को उखाड़ फेंकने के लिए उठ खड़े होने को ये परिस्थितियाँ आवश्यक और पर्याप्त हैं। इसे 'शूद्र विप्लव' कहेंगे। इस विप्लव के नेता भी दैहिक और मानसिक रूप से उन्नततर होंगे, जो बलपूर्वक पूँजीवादी संरचना को तहस-नहस कर सकते होंगे। दूसरे शब्दों में वे भी क्षत्रिय ही हैं। इस तरह एक प्रकार की भीषण दुर्व्यवस्था, सामाजिक गड़बड़ी, उथल-पुथल संकट के काल में फिर एक बार वही चक्र शूद्र युग से क्षत्रिय, क्षत्रिय से विप्र और विप्र से वैश्य युग का प्रवर्त्तन प्रारंभ हो जाता है।

सभ्यता का चक्का यों ही घूमता चलता है। एक युग जाता है, दूसरा आता है। इस क्रमिक परिवर्त्तन को क्रान्ति कहते हैं। एक युग से दूसरे युग के परिवर्त्तन के बीच की अवधि को युगसंक्रान्ति कहते हैं। शूद्रयुग से प्रारंभ कर चारों युग की एक बड़ी अवधि को 'परिक्रान्ति' कहते हैं। कभी-कभी यह समाज चक्र विकास विरोधी ऋणात्मक सिद्धान्त लेकर चलने वाले कुछेक लोगों के द्वारा भौतिक या मानसिक बल से पीछे की ओर ढकेल दिया जाता है, इसे 'विक्रान्ति' कहते हैं। यह सभ्यता के विकास क्रम के विरुद्ध है। पर यदि यह उलट फेर या समाज चक्र की उलटी गति बहुत अल्प अवधि में प्रचण्ड राजनीतिक दबाव अथवा अन्य पाशवी बल से ला दी जाए तो इसे 'प्रतिविप्लव' कहेंगे। यह आकस्मिक परिवर्तन ब्रह्मचक्र के ऋणात्मक प्रतिसंचर से मिलता जुलता है।

इसप्रकार मानव समाज की सभ्यता की प्रगति और यात्रा के ये सारे पड़ाव मानव की सामग्रिक संहति के पुरुषोत्तम की ओर

आगे बढ़ते चलने के विभिन्न अवस्थानों के बिन्दु हैं, मील के पत्थर हैं।

यह संसार, भूमा मानस की कल्पना धारा में एक परिवर्तनशील क्षण स्थायी गतिशील सत्ता है। यह अनन्त काल प्रवाह में चला जा रहा है। यह गति ही प्रकृति का विधान है, जीवन का नियम है। स्थाणुता मृत्यु है। अत: समाज के विकास चक्र को कोई ताकत रोक नहीं सकती। आन्तरिक या बाह्य कोई भी ताकत गति परिवर्त्तन की इसकी गति को थोड़ा मन्द कर सकती है, थोड़ा तेज कर सकती है पर इसे आगे बढ़ने से रोक नहीं सकती। अत: मानवता की प्रगति के लिए आवश्यक है कि अतीत के कंकाल को झाड़ फेंके। मानवता का कल्याण इसी में हैं कि वह प्रगति के रथ की गति को सामान्य भाव से तीव्रतर करते चले।

भौतिक, मानसिक या आध्यात्मिक क्षेत्र में, यम और नियम के जीवन मूल्यों का पालन करते हुए, पूर्व नियोजित विचार सम्मत आधार पर मानवता के उत्थान के लिए समर्पित, आध्यात्मिक, विप्लवी, कार्यकर्ता 'सद्विप्र' है। यम साधन के पाँच अंग हैं— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। अहिंसा का अर्थ है किसी निरीह प्राणी को विचार, वाणी या कर्म से कष्ट न पहुँचाना। सत्य है अपनी वाणी से सच्चे अर्थों में दूसरों को उपकृत करना। यों यह सापेक्ष व्यवहार नहीं है। केवल क्रियात्मक रूप से नहीं अपितु भावनात्मक या मानसिक रूप से भी चोरी न करने को अस्तेय कहते हैं। प्रत्येक क्रिया मूलत: मानसिक है। अत: अस्तेय का सही भाव है जो अधिकारी अर्थों में या सच्चे अर्थों में अपना नहीं है उसे पाने की भावना, आग्रह का परित्याग करना। ब्रह्मचर्य का आन्तरिक तत्त्वार्थ है अपने प्रत्येक शारीरिक या मानसिक विषय भाव में वृहद् की उपस्थिति और प्रभुत्व की अनुभूति। यह

तभी संभव होता है जब अणुमन में भूमामन की एषणा की अनुगूँज छाई रहती है। अपरिग्रह का अर्थ है शरीर की रक्षा के अतिरिक्त, अनावश्यक सुख-सुविधाओं का परित्याग या अस्वीकार। पाँच नियम साधन हैं– शौच, सन्तोष, तप:, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। शौच का अर्थ है दैहिक और मानसिक पवित्रता। मानसिक पवित्रता परोपकारी कर्म करने, दानशीलता एवं ऐसे ही अन्य कर्त्तव्यों से आती है। सन्तोष का अर्थ है मानसिक परितृप्ति अर्थात् अपने शारीरिक और मानसिक श्रम के अनुपात में खुशी-खुशी निर्विरोध पावना स्वीकार करना। तप: का अर्थ है शारीरिक कष्ट सहकर भी जनहित के आदर्श के लिए अग्रसर होना। स्वाध्याय है सद्ग्रन्थ, शास्त्र एवं अन्य तात्त्विक विषयों का पठन, मनन और उनका पर्यालोचन। सारा विश्व एक पुरुषोत्तम के द्वारा परिचालित है। उसकी अनुमति, स्वीकृति के बिना न कोई कुछ करता है और न कर सकता है। अपने आपको उस सर्वशक्तिमान के हाथों यंत्रवत् समझना, अपने आपको उस विराट् ज्योतिष्क, अग्निपुंज का स्फुलिंग मात्र अनुभव करने की स्वगत भावना है- ईश्वर प्रणिधान। ईश्वर प्रणिधान का दूसरा महत्त्व है- सामयिक प्रसन्नता या अवसाद, वैभव या दरिद्रता में उस परम पुरुष में अटूट विश्वास, अटल आस्था रखना। सामान्य जीवन और आध्यात्मिक व्यवहार में इन दस निर्देशों का सहज स्वाभाविक अनुपालन करने वाले ही सद्विप्र हैं। नैतिकता और आध्यात्मिकता से संबलित ऐसे सद्विप्रों को समाज के प्रति मौलिक दायित्व निबाहना है। समाज विकास के चक्र में प्रत्येक युग के उपान्त में, दूसरा युग आने के पहले, एक विशेष वर्ग को अधिकार एवं श्रेष्ठता का महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो जाता है। ऐसा वर्ग जब-जब राज शासन में रहता है तो उसके द्वारा समाज का शोषण करने की खूब संभावना बनी

रहती है। इतिहास साक्षी है कि यह केवल संभावना नहीं है अपितु ऐसा बार-बार होता रहा है। ऐसी परिस्थितियों में सद्विप्र का दायित्व है कि वह देखे कि ऐसा प्रबल वर्ग शोषण न कर पाए। चातुर्वर्ण, शूद्र-कृषक मजदूर, क्षत्रिय-योद्धावर्ग, विप्र-बुद्धि जीवी वर्ग और वैश्य-पूँजीपति वर्ग- समाज चक्र में इनके उपयुक्त लक्षण परिलक्षित हो चुके हैं और परात्पर उनका प्रभाव बढ़ना और क्रमश: ह्रास होना यही समाज चक्र की गति है।

जीवन एक गतिमय दर्शन है और समाज चक्र अविराम गति से सतत चल रहा है इसे रोका नहीं जा सकता क्योंकि विराम का अर्थ है मृत्यु। अत: सद्विप्र का काम है कि वह प्रभावशाली लोगों अथवा शासक वर्ग के द्वारा शोषण का अवसर न आने दे। जैसे ही कोई वर्ग शोषक बनने लगता है, समाज के बड़े भाग का जीवन कष्टपूर्ण हो जाता है। मुट्ठी भर लोग, बाकी सारे लोगों को लूटखसोट कर मौज करते हैं- बेचारे अधिकांश को तो सहना ही पड़ता है। इतना ही नहीं, समाज की ऐसी अवस्था में थोड़े शोषक और अधिकांश शोषित दोनों का ही चारित्रिक अध:पतन हो जाता है। थोड़े शोषक तो भौतिक सुख भोग की अतिशयता के कारण अध:पतित होते हैं और शोषितों का बड़ा वर्ग भी अपने को ऊँचा नहीं उठा पाता। उनकी तो सारी ताकत सांसारिक नोन, तेल, लकड़ी की समस्या सुलझाने में चुक जाती है और उनकी मानस तरंगें सदा मानस भौतिक समान्तरता पाने में लगी रह जाती है और इस क्रम में दिन-ब-दिन जड़तर होती जाती है। अत: समाज के इन शोषकों और शोषितों, शासकों और शाषितों, दोनों के भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक कल्याण के लिए यही आवश्यक है कि किसी को भी बाकी लोगों के शोषण का अवसर न दिया जाए।

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [46]

सद्विप्र कोई मूक द्रष्टा नहीं होगा बल्कि वह सक्रिय होकर देखेगा कि कोई व्यक्ति या वर्ग दूसरों का शोषण न कर सके। संभव है इसके लिए उसे कभी हिंसा का भी सहारा लेना पड़े क्योंकि उसे तो शोषण के लिए उतावला हो रही शक्ति के स्रोत पर ही आघात करना पड़ेगा। यदि क्षात्रवर्ग शोषक हो रहा हो तो सद्विप्र को शस्त्र बल का सहारा लेना पड़ेगा और यदि बुद्धिजीवी विप्रवर्ग प्रभावी हो रहा हो तो उसे बौद्धिक क्षेत्र में विप्लव लाने के लिए कमर कसनी पड़ेगी। यदि पूँजीवादी वैश्यों का शोषणकारी प्रभाव बढ़ रहा हो तो सद्विप्रों को चुनावों में खड़े होकर जीतना होगा। वैश्य बड़े चालाक हैं, वे प्रजातंत्र का नाम लेकर शासन करते हैं। यह प्रजातांत्रिक ढाँचा उन्हें अकूत लाभ बटोरने में समर्थ कर देता है।

जमालपुर, ०४/०६/१९५९

११. विश्व भ्रातृत्व

अध्यात्मतत्त्व मात्र हवाई किला नहीं है। यह तो एक व्यावहारिक दर्शन है जिसका दैनिक जीवन में अनुभव किया जा सकता है; जिसे कठोर वास्तविकता के धरातल पर व्यवहार में लाया जा सकता है। आध्यात्मिकता विकास और उत्थान पर आधारित है न कि अन्धविश्वास, निष्क्रियता या निराशा में। सारी विघटनकारी वृत्तियाँ और जाति, वंश, सम्प्रदाय आदि की बेड़ियाँ जो संकीर्ण मानसिकता पैदा करती हैं, इनका आध्यात्मिकता से न तो कोई वास्ता है और न इनको कोई महत्त्व देना चाहिए। जो व्यापकता और ऐक्य की ओर ले चले वही ग्रहण योग्य है। आध्यात्मिक दर्शन, मनुष्य के बीच किसी अस्वाभाविक पृथकतावादी भेदबुद्धि को स्वीकार नहीं करती। इसका संदेश है विश्व भ्रातृत्व।

वर्त्तमान परिवेश में अनेक विघटनकारी प्रवृत्तियाँ प्रचलित हैं जो मानवता को परस्पर संघर्षरत दलों में बाँटती हैं। आध्यात्मिकता मानव मनोविज्ञान में सद्भाव सृजन कर सृष्टि की जाति प्रजातियों में स्वाभाविक मैत्री सम्बन्ध बढ़ाएगी। आध्यात्मिकता का अभिगम, इसका दिशा-निर्देश विवेकपूर्ण, मनोवैज्ञानिक होना चाहिए जो मनुष्य के गहनतम आन्तरिक मर्म को छूने वाला हो। मनुष्य को विवेकपूर्ण संश्लेषण एवं विश्लेषण के द्वारा विश्वात्मा परमपुरुष के साथ अपना सम्बन्ध समझकर उसकी परम प्रेममय सत्ता की चरम उदार करुणा को अङ्गीकार करना चाहिए। आध्यात्मिकता मनुष्य को उस एक परम सत्य की ओर ले जाए जिस उत्स से वह आया है और जो उसका चरम गन्तव्य है। वही अन्तिम और निरपेक्ष आदर्श है, देशकाल पात्रातीत, भूमा आदर्श। यह सब आकांक्षाओं, अपेक्षाओं से ऊपर, चरम निरपेक्ष, आत्म परिपूर्ण है।

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [47]

यह अपनी द्युति से, सब कालों में विश्व के सब अंशों में- चाहे मनुष्य में हो या छोटे से छोटे अविकसित प्राणी में हो, द्युतिमान है। यह भूमा आदर्श ही मनुष्यता को एकीकृत करने में समर्थ है जो मनुष्य को इतना बल देगा कि वह सारे बन्धनों को तोड़कर विघटनकारी प्रवृत्तियों की संकीर्ण दीवारों को ध्वस्त कर सकता है।

भावुकता पैदा करने वाले सारे भावों का दृढ़तापूर्वक विरोध करना होगा। इसका मतलब उन मनोभावों, रूढ़ियों, आचरणों पर आघात करना नहीं है, वे तो मनुष्य में सहज स्वभावगत हो गए हैं और ये मनुष्य की सर्वात्म उन्नति में बाधक नहीं से हैं। उदाहरण के लिए यदि सब लोगों के लिए समान परिवेश का कोई आन्दोलन हो तो यह हास्यास्पद और अविवेकपूर्ण होगा। विभिन्न परिवेशों, परिधानों का चयन तो जलवायु और शरीरगत आवश्यकताओं पर आधारित होता है। इसके अलावा परिधानवाद असमानता विश्व भ्रातृत्व में किसी भी रूप में बाधक नहीं है।

दूसरी ओर अन्य परंपराओं या प्रथाओं की क्षेत्रीय, प्रादेशिक बहुत सारी भिन्नताएँ भी होंगी। समाज के स्वदेशगत विकास के लिए इनकी तो सराहना करनी चाहिए, इन्हें उत्साहित करना चाहिए। ये विश्व बिरादरी के लिए बाधक नहीं हैं। लेकिन सारी मानवता की एकत्व भावना के निर्माण में बाधक तत्त्वों का विरोध करने में कोई समझौता नहीं किया जाना चाहिए। संसार भर की मानव जाति की एकता की भावना की प्रेरणा कुछ विशेष भौतिक समस्याओं पर आधारित है जिनका समाधान मानवतावादी दृष्टिकोण से मिलजुलकर करना आवश्यक है।

वस्तुवादी सापेक्ष क्षेत्र में निम्नलिखित मौलिक समस्याओं का समाधान करना निहायत जरूरी है।

१) सामान्य जीवन दर्शन २) सामान्य संवैधानिक ढाँचा ३)

सामान्य दण्ड संहित ४) न्यूनतम जीवनोपयोगी आवश्यकताओं का संभरण (उत्पादन, आपूर्त्ति एवं क्रय शक्ति का विकास)

सामान्य जीवन दर्शन की माँग है कि मनुष्य के मन में स्पष्ट धारणा हो कि मानव व्यक्तित्व के विकास का अर्थ है भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक तीनों क्षेत्रों में विकास। कुछ वस्तुवादी, भौतिकतावादी, जड़वादी चिन्तक समझते रहे हैं कि आध्यात्मिकता केवल हवाई किला है और जीवन की आधारभूत वास्तविकताओं से इसका दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। दूसरे विचारकों ने कहा कि आध्यात्मिकता साधारण जन समाज को बेवकूफ बनाने का बुद्धिमानीभरा चालाक उपक्रम है। पर इन्हीं पृष्ठों में विश्लेषित युक्तियाँ सुधी पाठकों को यह सुस्पष्ट करने में समर्थ है कि जीवन के हर क्षेत्र में सारात् सार तत्त्व है- अध्यात्म।

जो लोग धर्म को मनुष्य का व्यक्तिगत मामला समझते हैं वे इसे बहुत ही संकीर्ण भाव से जानते हैं। धर्म विश्वगत एकता की ओर ले जाता है; मनुष्य के मन में जागतिक आदर्श जमा देता है। धर्म मानव में एकत्व लाने वाला तत्व है और आध्यात्मिकता व्यक्ति और विशाल मानव समाज में वह सूक्ष्म और जबर्दस्त शक्ति देता है जितना कोई दूसरा तत्त्व नहीं दे सकता। अत: आध्यात्मिकता के आधार पर एक विवेकपूर्ण दर्शन का विकास करना चाहिए जो भौतिक, मानसिक और समाज- दार्शनिक समस्याओं का समाधान ढूँढ़ सके। मानव के तीनों क्षेत्रों आध्यात्मिक, मानसिक एवं भौतिक विकास का पूर्ण विवेक पर आधारित सिद्धान्त सारी मनुष्य जाति के लिए सर्वमान्य, सामान्य दर्शन होगा। यह एक विप्लवकारी एवं सतत प्रगतिशील सिद्धान्त या दर्शन होगा। हाँ, स्थानीय परिस्थितियों के लिए युगानुकूल छोटे-मोटे अन्तर हो सकते हैं।

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [48]

राष्ट्रीयता का भाव बहुत तेजी से दूर हो रहा है। पिछली शताब्दी में राष्ट्रीयता की भावना ने संसार में विश्व युद्धों का कठोर आघात दिया है। आज के युग का जैसा सामाजिक और सांस्कृतिक संश्लेषणात्मक एकीकरण हो रहा है। वह भी व्यापक स्तर पर सार्वभौमिकता की भावना के प्रभाव के विस्तार का सूचक है। निहित स्वार्थ वाले लोग तो विघटनकारी प्रवृत्ति फैलाना चाहते ही हैं। कुछ तो अपने आर्थिक और राजनैतिक प्रभुत्व को पाँवों तले से खिसकता अनुभव करते हैं। ऐसे लोग ही ऐसी विनाशकारी प्रतिगामी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करने के लिए उत्तरदायी हैं। इन बाधाओं के बावजूद मानवजाति का सामाजिक संश्लेषणात्मक मेल-मिलाप प्रगति कर रहा है। अब जरूरत है ऐसा एक वैधानिक ढाँचा निर्माण करने की जो संसार को एकता के सूत्र में दृढ़तापूर्वक बाँध सके। इसी क्रम में एक सार्वभौम प्रशासन बहुत आवश्यक कड़ी है जो कुछ मामलों में पूरा नियंत्रण रखे- जैसे पूरे संसार की एक ही सेना होनी चाहिए। सार्वभौम सरकार कुछ स्वशाषित इकाइयाँ बना सकती है जो जरूरी नहीं कि राष्ट्रीयता के आधार पर हो बल्कि शिक्षा, खाद्य आपूर्ति, बाढ़ नियंत्रण, जनभावना आदि पर आधारित हो सकती है। ये इकाइयाँ भौतिक और मानसिक समस्याओं पर निगरानी रख सकती हैं। पारिपार्श्विक परिवर्तनों के अनुकूल इन इकाईयों की सीमा रेखाएँ बदल भी सकती है। ये परिवर्तन संचार माध्यमों की तकनीक में विकास भी ला सकते हैं।

संचार साधनों के विकास से संसार के दूर-दूर के भाग भी निकटतर लगने लगते हैं जिससे संसार छोटा होता जाता है। अत्युन्नत विकसित द्रुततर संचार संसाधन से बड़े-बड़े इलाकों वाली इकाइयाँ भी सुविधा से कुशलतापूर्वक संभाल सकती हैं। सारे संसार के लिए एक सामान्य भाषा भी विकसित करनी होगी।

(आज इस रूप में अंग्रेजी अत्यन्त उपयुक्त भाषा है और इसके विरुद्ध कोई राष्ट्रीय भावना नहीं खड़ी होनी चाहिए) पर साथ-साथ स्थानीय साहित्य के विकास और जगत् की प्रगति में योगदान के लिए स्थानीय भाषाओं और साहित्य को भरपूर समर्थन एवं प्रोत्साहन मिलना चाहिए। इससे अखिल विश्व के जन-जन में सामान्य भ्रातृभावना का विकास संभव होगा।

इसी प्रकार एक सामान्य दण्डसंहिता का भी विकास अनिवार्य है। विधान प्रगतिशील होना चाहिए जिसमें परिवर्तनशील अवस्थाओं के परिप्रेक्ष्य में क्रमिक सामंजस्य की व्यवस्था हो। देश-काल-पात्र सापेक्ष निरन्तर परिवर्तनशील परिस्थितियों के समान्तर न चल सकने वाला कोई भी सिद्धान्त समय की मार नहीं सह सकता, उसे तो पुराने कबाड़खाने में ही जगह मिलती है। अत: वैधानिक व्यवस्थाओं में अपेक्षित संशोधनात्मक सुधार के अविराम प्रयास का द्वार खुला रखना चाहिए।

किसी भी सरकार की विधि व्यवस्था में प्रतिबन्धित आचरण अपराध कहा जाता है और पारंपरिक प्रथाओं से पाप और पुण्य का निरूपण होता है। कानून बनाने वालों की भावनाएँ पाप पुण्य की स्थानीय परंपराओं, प्रथाओं और रूढ़ियों पर आधारित धारणाओं से बहुत कुछ प्रभावित रहती हैं। इसप्रकार अपराधबोध पाप और पुण्य की धारणाओं के साथ समान्तर चलता है। पाप और पुण्य की धारणा देश-देश में अलग-अलग है। विश्वबन्धुत्व के समर्थकों को इनके भेदों को कम करते हुए शारीरिक, नैतिक और मानवीय कानूनों के अन्तर को भरने का प्रयास करना होगा जो आचरण मानवता के सामान्य आध्यात्मिक, मानसिक और दैहिक पक्षों के विकास में सहायक हैं वे पुण्य की श्रेणी में गिने जाएँ, जो आचरण मानवता के आध्यात्मिक, मानसिक और भौतिक विकास

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [49]

में बाधक हों उन्हें पाप में गिना जाए। पुण्य और पाप की यह धारणा या मान्यता सार्वभौम मानवता के लिए सामान्य रूप से लागू हो सकती है।

जीवन की निम्नतम आवश्यकताओं की उपलब्धता न केवल विश्वभ्रातृत्व की सिद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान करती है बल्कि मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में भी। अत: इसको सार्वभौम क्षेत्र में कुछ मौलिक दृष्टियों के आधार पर देखना होगा। प्रत्येक मनुष्य की कुछ मौलिक आवश्यकताएँ हैं जो प्रत्येक को मिलनी ही चाहिए। खाद्यान्न, वस्त्र, चिकित्सा और आवास की आवश्यक व्यवस्था होनी ही चाहिए जिससे कि मनुष्य अपनी अतिरिक्त ऊर्जा को इनमें न खर्च कर, सूक्ष्म विकास के लिए उपयोग करे। व्यवस्था के अभाव में उसे अब तक इसकी खातिर धक्के खाने को बाध्य होना पड़ा। इनके साथ ही आज के प्रगतिशील युग की अन्य सुविधाएँ प्राप्त करने का पर्याप्त अवसर मिलना चाहिए। इन उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए पर्याप्त क्रय शक्ति बढ़ाने की भी जरूरत होगी।

यदि किसी हुनर अथवा श्रम के बिना आवश्यक वस्तुओं की आपूर्ति सुनिश्चित हो जाए तो व्यक्ति में आलस्य का मनोभाव बढ़ जाएगा। यद्यपि मनुष्य की मौलिक आवश्यकताएँ सबके लिए समान हैं पर विविधता भी तो सृष्टि का स्वभाव है। इसलिए विशेष सुविधाओं की भी व्यवस्था आवश्यक है जिससे कि व्यक्ति का कौशल और मेधा का समुचित उपयोग हो सके। मनुष्य की प्रतिभा को अधिकतम मानवीय विकास के लिए, प्रोत्साहन मिलना ही चाहिए। अत: विशेष या अतिरिक्त वेतन की व्यवस्था आवश्यक है जो देशकाल के अनुरूप जीवन की विशेष सुविधाएँ ला देगा। इसके साथ सामान्य मनुष्य की न्यूनतम आवश्यकताओं और

विशेष लाभांश के बीच का अन्तर कम करने के ऊपर सदा ध्यान रखना होगा। न्यूनतम आवश्यकताओं की सुनिश्चित आपूर्ति को विशेष लाभांश और सुविधाएँ बढ़ा कर युग के अनुकूल बनाने की उदारता आवश्यक है। इसके साथ ही कुछ लोगों को दिये जाने वाले विशेष वेतन में अपेक्षित कमी करते जाना होगा। उपयुक्त आर्थिक सामंजस्य के लिए अविराम प्रयास, अथक रूप से हर युग में जारी रखना होगा जिससे कि मनुष्य का आध्यात्मिक, मानसिक और दैहिक विकास संभव हो, मनुष्य मात्र में सार्वभौम भावना, विश्वबन्धुत्व एवं भूमा का आदर्श प्रतिष्ठित हो सके।

इसप्रकार की समाजार्थी व्यवस्था में मनुष्य आध्यात्मिक और मानसिक क्षेत्रों में पूरी तरह स्वतंत्र है। यह इसलिए संभव है क्योंकि जिन आध्यात्मिक और मानसिक सत्ताओं के लिए मनुष्य की आकांक्षा जागृत होती है वे स्वयं असीम, अनन्त हैं; और इन क्षेत्रों की उपलब्धियों का आयाम दूसरों की इन्हीं क्षेत्रों में प्रगति में कोई बाधा नहीं डालता। पर भौतिक क्षेत्रों में आपूर्ति सीमित है। अत: भौतिक वस्तुओं के अनुपात से बाहर या अबाध परिग्रह से अभावग्रस्त लोगों का बहुत बड़ा वर्ग खड़ा हो जाने की संभावना रहेगी। इसतरह समाज के बड़े वर्ग का आध्यात्मिक, मानसिक और भौतिक विकास अवरुद्ध हो जाएगा। अत: भौतिक क्षेत्र में मनुष्य की व्यक्तिगत स्वतंत्रता की समस्या का विचार करते समय ध्यान रहे कि यह उस सीमा का अतिक्रमण न करे जहाँ यह मनुष्य के पूरे व्यक्तित्व के विकास को बाधित करने का बड़ा कारण बन जाए। साथ ही इसे इतना कठोर रूप से काट-छाँट कर सीमित भी नहीं कर दिया जाए कि मनुष्य की आध्यात्मिक, मानसिक और भौतिक विकास ही बाधित हो जाए।

इसप्रकार आनन्द मार्ग का सामाजिक दर्शन, व्यक्ति के

D:\Bhavatit\Bhavatit.pm5 [50]

समेकित व्यक्तित्व के विकास का पक्षधर होने के साथ विश्वबन्धुत्व की स्थापना और मनुष्य के मन में सार्वभौमिक भावना की प्रतिष्ठा चाहता है। आनन्द मार्ग सृष्टि के स्थूल, सूक्ष्म और कारण, संसाधनों, सम्पदाओं के प्रगतिशील उपयोग का समर्थन करता है। समाज में जीवन, शक्ति और प्रगति के लिए एक आन्दोलन, एक आलोड़न चाहिए। इसी हेतु से आनन्द मार्ग ने 'प्रउत' प्रगतिशील, उपयोगी तत्त्व का प्रवर्तन किया है। प्रउत अर्थात् सब तत्त्वों का प्रगतिशील उपयोग। जो इसका समर्थन करेंगे वे प्रउतवादी या प्राउटिस्ट कहे जाएंगे। प्रउत का सिद्धान्त निम्नलिखित भौतिक तत्वों पर निर्भर है।

१) किसी व्यक्ति को समाज की विधिवत् स्वीकृति के बिना भौतिक सम्पद् परिग्रह का अधिकार नहीं होगा।

२) विश्व की समस्त स्थूल, सूक्ष्म और कारण संभावनाओं का प्रगतिशील उपयोग और विवेक सम्मत आवंटन प्रयोजनीय है।

३) मानव समाज की व्यक्तिसत्ता और समष्टिसत्ता के भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक संभावनाओं का अधिकतम उपयोग अपेक्षित है।

४) इन भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक उपयोगिताओं में उपयुक्त सामंजस्य आवश्यक है।

५) उपयोगिता की विधि, उसकी व्यवस्था में देश, काल, पात्र के परिवर्त्तनों के अनुरूप परिवर्त्तन अपेक्षित है और वे उपयोग सदा प्रगतिशील हों।

अत: हमारा सिद्धान्त है प्र (गतिशील) उ (पयोग) त (त्व)= प्रउत

जमालपुर, ०५/०६/१९५९

आनन्दमार्ग एक विप्लव है

आनन्दमार्ग संसार से पलायन की शिक्षा नहीं देता अपितु प्रत्येक व्यक्ति के लिए संसार में रहना नितान्त आवश्यक मानता है। संसार को बराबर प्रमुखता देना स्वयं एक विप्लवी संकल्पना है। आनन्दमार्ग एक संयासी और एक गृही में कोई भेद नहीं मानता। हमारे मार्ग में एक गृही को सन्यासी से उच्चतर स्थान दिया गया है क्योंकि गृही अपने निर्वाह के लिए किसी दूसरे पर आश्रित नहीं रहता जबकि एक संयासी को दूसरों पर आश्रित रहना पड़ता है। गृही तो एक सुदृढ़वृक्ष की नाई है जो स्वयं जमीन से अपना रस और बल खींच लेता है, जबकि संयासी उस लता की नाई है जो अपने अवलम्बन के लिए वृक्ष को घेर कर खड़ी होती है। इस कारण आनन्दमार्ग की विचार धारा के अनुसार गृही, सन्यासी से अधिक सम्मान का अधिकारी है। यह स्वयं एक विप्लवकारी विचार है। पूर्वात्य या पाश्चात्य किसी भी दार्शनिक ने गृही को संयासी से अधिक सम्मान का अधिकारी घोषित करने का साहस नहीं किया है। ऐसी घोषणा करने के लिए विप्लवी साहस की जरूरत है।

श्री श्री आनन्दमूर्ति

तात्त्विक प्रवेशिका, प्रथम संस्करण, 1957 (पृष्ठ 161)
आचार्य इन्द्रदेव धर्ममित्र, कटिहार द्वारा मूल अंग्रेजी से भाषान्तरित